अष्ट प्रवचन

卐

श्री तारणस्वामी विरचित

श्री 'ज्ञानसमुच्चयसार' आदि ग्रंथों पर

पू० श्री कानजी स्वामी के

- सम्यक्त्व प्रेरक -

आठ अमृत-प्रवचन

संकलनकर्ता

ब्र० हरिलाल जैन

'ज्ञान रश्मि' सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक :

समाजभूषण सेठ भगवानदास शोभालाल जैन

सागर की ओर से,

विन्ध्याचल प्रकाशन

जबलपुर (म० प्र०)

प्रथम संस्करण : ३०००

मई. १९६४

मूल्य १ : ५०

मुद्रक

पं० परमेष्ठीदास जैन

जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर (उ० प्र०)

श्री तारण तरण जैन तीर्थ क्षेत्र
निसई जी ट्रस्ट, मल्हारगढ़ (गुना) म० प्र०

भूमिका

गतवर्ष दस लक्षणी पर्यूषण पर्व के समय सागर निवासी समाजभूषण सेठ श्री भगवानदास जी, सेठ श्री शोभालाल जी, टिमरनी निवासी सेठ श्री चुन्नीलाल जी, पंडित श्री जयकुमार जी आदि महानुभाव सोनगढ़ आये थे, उस समय समयसार की ४७ शक्ति के ऊपर एवं प्रवचनसार के ऊपर पू० श्री कानजी स्वामी के अध्यात्मरस-पूर्ण प्रवचन सुनकर वे बहुत प्रभावित हुये, और उनको श्री तारणस्वामी रचित शास्त्रों का मार्मिक अर्थ गुरुदेव के श्रीमुख से सुनने की जिज्ञासा हुई। उनकी विनती के अनुसार पू० गुरुदेव ने श्री तारणस्वामी विरचित श्री ज्ञानसमुच्चयसार आदि ग्रन्थों के सार भाग के ऊपर आठ दिन तक अध्यात्म-भावना से भरपूर विवेचन किया। यह आध्यात्मिक विवेचन सुनकर सेठ भगवानदास जी, शोभालाल जी आदि को बहुत प्रसन्नता हुई और आठों प्रवचन छपवाने की उनकी भावना हुई। तदनुसार इन आठों प्रवचनों का संग्रह इस "अष्ट-प्रवचन" के रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्रवचन के साथ मूल गाथायें भी दी गई हैं।

श्री 'ज्ञानसमुच्चयसार' आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता श्री तारणस्वामी विक्रम संवत् की १६ वीं शताब्दी में मध्य-

प्रान्त में हुये। मध्यप्रांत में अनेकों जिज्ञासु आपकी अध्यात्म-शैली से प्रभावित हैं। आपके द्वारा रचे गये ग्रन्थों में बार बार कुन्दकुन्दस्वामी, अमृतचन्द्र स्वामी, समन्तभद्रस्वामी आदि आचार्यों के समयसार, नियमसार, स्वयंभू स्तोत्र, योगसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्रों का उल्लेख किया गया है। आपकी प्रतिपादन शैली अध्यात्मरस से भरपूर है इससे आपके ग्रंथ के ऊपर किया गया यह विवेचन भी अध्यात्म-रसिक जनों को अवश्य रुचिकर होगा। आठ प्रवचनों के साथ-साथ उससे सम्बन्धित चर्चायें भी सम्मिलित कर दी गई हैं। सेठ श्री भगवानदास जी शोभालाल जी ने इन प्रवचनों के प्रकाशन के द्वारा अपनी अध्यात्म-प्रचार की जो भावना व्यक्त की है वह प्रशंसनीय है। इन अष्ट प्रवचनों में सम्यक्त्व की बहुत ही महिमा व प्रशंसा की गई एवं बार-बार उसके पुरुषार्थ की प्रेरणा दी गई है। हमारे साधर्मी बन्धु इस 'अष्ट-प्रवचन' के द्वारा अध्यात्मरस का पान करके सम्यक्त्वमार्ग में उद्यमी बनें—यही कामना है।

दीपावली : २४८९ }
सोनगढ (सौराष्ट्र) }

—ब्र० हरिलाल जैन।

भेंट

श्री ______________________

____

विनम्र

____

कुन्दकुन्द-वाणी

श्रावक को प्रथम क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं कि—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

हे श्रावक ! प्रथम तो शुद्ध-निर्मल सम्यक्त्व को मेरुवत् निष्कंप-दृढ़रूप से धारण करके, दुःख-क्षय के हेतु उसी को ध्यान में ध्याओ ।

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥८७॥

जो सम्यक्त्व को ध्याता है वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणमित होता हुआ वह जीव आठों दुष्ट कर्मों का क्षय करता है ।

(मोक्षप्राभृत)

आत्मज्ञ संत, परमोपकारी, सत्पुरुष—



पूज्य श्री कानजी स्वामी

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सम्यक्त्व-महिमा

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्मत्तमाहप्पं ॥८८॥

सम्यक्त्व की महिमा के लिये अधिक क्या कहें ? जो प्रधान पुरुष पूर्वकाल में सिद्ध हुये हैं और भविष्य में होंगे वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो । सम्यक्त्व मुक्ति का प्रधान कारण है और सम्यक्त्व ही धर्म के सर्व अंगों को सफल करता है ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥८९॥

सिद्धिकर ऐसे सम्यक्त्व को जिस पुरुष ने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है वह पुरुष धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वह शूरवीर है, वही मनुष्य और पंडित है । सम्यक्त्व रहित नर पशु समान है ।

(मोक्षप्राभृत)

सम्यग्दृष्टि की रीति

चिन्मूरत दृगधारी की
मोहि रीति लगत है अटापटी।
बाहिर नारकिकृत दुःख भोगे
अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै
तिस परनति तें नित हटाहटी॥ चि० १
ज्ञानविराग शक्ति तें विधिफल
भोगत पै विधि घटाघटी,
सदन निवासी तदपि उदासी
तातें आस्रव छटाछटी॥ चि० २
जे भवहेतु अबुध के ते तस
करत बंध की झटाझटी,
नारक पशु तिय षट विकलत्रय
प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी॥ चि० ३
संयम धर न सकैं पै संयम-
धारन की उर चटाचटी,
तासु सुयस गुनकी दौलत को,
लगी रहे नित रटारटी॥ चि० ४

सम्यक्त्व

काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भव समुद्र भी अनादि है। अनादिकाल से भव-समुद्र में भटकते हुए जीव ने दो वस्तुएँ कभी प्राप्त नहीं कीं—एक तो श्री जिनवर स्वामी और दूसरा सम्यक्त्व।

—योगीन्द्रदेव।

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

तीन काल और तीन लोक में जीवों को सम्यक्त्व समान कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व समान अन्य कोई अकल्याण नहीं है।

— इसलिये —

विरम किमपरेण कार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥

—आत्मख्याति : ३४

दो शब्द

'अष्ट प्रवचन' पुस्तक के विषय में हम अपनी ओर से क्या कहें और इस प्रसंग में कुछ कहना हमारा काम भी नहीं है, फिरभी दो शब्दों में यदि कुछ निवेदन करदें तो यह अप्रासंगिक नहीं होगा।

सांसारिक व्यापार में बहुत समय तक लगे रहने वाले व्यक्ति उसमें एक न एक दिन थकान का अनुभव करते हैं। तब कुछ समय विश्राम और मानसिक शांति चाहते हैं। हमें भी कुछ ऐसा ही लगा कि वैभव की प्यास तो कभी न बुझने वाली प्यास की तरह कठिन रोग है, उच्चाभिलाषा एक नशा है और यशालिप्सा का ज्वर जिसे चढ़ पाता है कठिनाई से ही उतरता है। फिर जीवन के प्रभात के पीछे संध्या और दिन के पीछे रात है और एक के बाद एक बीतते ही चले जाते हैं। मानव-जीवन का उद्देश्य तो कुछ और ही है, वह जिस सुख और शांति को चाहता है आखिर वह उसे कैसे और कहाँ मिले ?

अंतर की इस लहर में गत वर्ष पर्युषण पर्व के अवसर पर हम दोनों भाई सोनगढ की ओर चल पड़े। वहाँ पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के दर्शन हुये और लगातार कुछ समय तक उनके कल्याणकारी सत्समागम में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके जीवन का एक एक क्षण साधनामय है।

उस समय स्वामी जी के प्रवचन श्री समयसार की ४७ शक्तियों के ऊपर चल रहे थे। उनके मुखारविंद से उन्हें बड़ी ही सरल और रोचक शैली में सुनकर मनमें अत्यंत आनंद का अनुभव हुआ। उसी समय एक विचार मनमें आया कि हम लोग श्री तारण स्वामी के ग्रंथों के पाठ-स्वाध्याय कुछ न कुछ प्रतिदिन

किया करते हैं, इनके मार्मिक अर्थ का स्वामी जी से इसी सरल और रोचक शैली में कुछ प्रकाश पा सकें तो बहुत अच्छा हो। इसी प्रेरणा वश स्वामी जी से प्रार्थना की और उन्होंने कृपा-पूर्वक स्वीकृति दे दी।

तदनुसार स्वामी जी ने लगातार आठ दिन तक श्री तारण-स्वामी रचित 'ज्ञानसमुच्चयसार', 'श्रावकाचार', 'उपदेश शुद्धसार' एवं 'ममलपाहुड' आदि ग्रंथों के विविध प्रसंगों पर आत्मविभोर कर देने वाले सारगर्भित आध्यात्मिक प्रवचन किये। उनकी वाणी से जो अमृत वर्षा हुई उसका रसास्वादन स्थानीय मुमुक्षु मंडल के लगभग ५०० श्रोताओं के साथ हम लोगों ने किया। हमारे साथ श्री सेठ चुन्नीलाल जी टिमरनी निवासी, श्री पंडित जयकुमार जी एवं अन्य अनेकों स्थानों से आये हुये सज्जन थे, और सभी को जो आनन्द प्राप्त हुआ वह अकथनीय है।

स्वामी जी के उपदेश! नहीं, वे तो दिव्य संदेश हैं "हे मानव! तेरे स्वात्म में अनन्तशक्ति है, तू कहाँ भूल रहा है? तेरे जीवन का मूल्य लाखों हीरों से बढ़कर है, यदि सम्यक्त्व मार्ग पर तू चल रहा है तो परमपद जो तेरा अंतिम लक्ष्य है उसे प्राप्त करने से तुझे कौन रोक सकता है?"

हम जीवन की जिस हाट में सैर कर रहे हैं केवल इतना तो न भूल जायें कि जो सौदा हमें लेना है उसे लेने के पहिले ही यह हाट कहीं उठ न जाय। अनेकों हितकारी भाव श्रोताओंके मनमें जाग्रत हुये।

पूज्य गुरुदेव के आठ दिन के वे आठ अमृत प्रवचन अध्यात्म प्रेमियों के लाभार्थ प्रकाशित करा देने की हमारी प्रबल भावना हुई और यह कार्य हमारे आग्रह पर कृपा करके श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जी ने अत्यंत लगन और सतत परिश्रम से कुशलतापूर्वक पूरा कर दिया। हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। गुजराती भाषा में

यह प्रवचन 'अष्ट प्रवचन' के नाम से पुस्तक रूप में सोनगढ़ से प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी प्रेमी भी इससे वञ्चित क्यों रह जायें, अतः यह हिन्दी संस्करण आपके हाथों में है। हिन्दी संस्करण यदि सुन्दर बन सका है तो उसका श्रेय भाई ताराचन्द जी समैया एवं पं० परमेष्ठीदास जी ललितपुर को है। विन्ध्याचल प्रकाशन छतरपुर ने इसकी प्रकाशन व्यवस्था का काम अपने हाथों में लेकर हमें बड़ा सहयोग दिया है, तथा प्रवचनों के अन्त में जो "सम्यक्त्वी के आठ अङ्ग" तथा "सम्यग्दृष्टि की उज्ज्वल परिणति" का अद्भुत वर्णन है उसका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जी जैन ने बहुत ही सुंदर शैली में किया है, अतएव हम उन सबके अत्यंत आभारी हैं।

'अष्ट प्रवचन' में सम्यक्त्व की विशद एवं सुंदर व्याख्या की गई है। शुद्धात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन और अनुभूतियों का सुगम चित्रण है जिनमें अध्यात्मभावों की स्पष्ट झलक पद पद पर दिखाई देती है। इन प्रवचनों में ग्रंथकर्ता के मनकी विभिन्न भावनायें साक्षात बोलती प्रतीत होती हैं, जिनका भाववैचित्र्य निःसंदेह अंतर्मुखी आनंद के समीप ले जाने वाला है।

पुस्तक कैसी है, यह तो पाठकों की रुचि-विशेष पर निर्भर करता है, किंतु हमें यह आशा अवश्य है कि अध्यात्मप्रेमी इससे प्रसन्न होंगे। इसे पढ़कर वे पायेंगे अंतर के तारों में 'आत्म' की प्रतिध्वनि। इसी विश्वास के साथ आपके हाथों में यह भेंट है कि यदि इससे कल्याणकारी अध्यात्मभावों का कुछ भी प्रसार हो सका तो हम अपने प्रयास में यत्किञ्चित ही सही, सफल हुये समझेंगे।

सागर,
२४ अप्रैल, १९६४
महावीर जयन्ती दिवस.

विनम्र—
भगवानदास शोभालाल जैन

स्वामी जी के परम भक्त
अध्यात्म-रसिक



समाजभूषण सेठ भगवानदास जी

युगल बंधु



समाजभूषण सेठ शोभालाल जी

[१]

पहला प्रवचन

[वीर सं० २४८८–आश्विन कृष्ण ११]

卐 सम्यक्त्व मंगल रूप है 卐

यह 'ज्ञान समुच्चयसार' पढ़ा जाता है। श्री तारण स्वामी अध्यात्मरसिक थे, उनके द्वारा यह शास्त्र रचा गया है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि दिगम्बर सन्तों की आम्नाय के अनुसार सर्वज्ञान का सार उन्होंने अध्यात्मशैली से दिखाया है। 'ज्ञान समुच्चयसार' अर्थात् सन्तों का कहा हुआ सर्व श्रुतज्ञान का सार क्या है—यह इसमें दिखाया है।

यहां श्री तारणस्वामी रचित ज्ञान समुच्चयसार में से २५वीं गाथा चलती है, उसमें सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन है। ग्रन्थ

के प्रारम्भ में शुद्ध सिद्ध भगवान को नमस्कार रूप मंगलाचरण किया है, एवं शुद्ध आत्मा को, ऋषभादि सर्व तीर्थंकरों को और पंच परमेष्ठी भगवंतों को भक्ति के साथ नमस्कार किया है। यहां पच्चीसवीं गाथा में जो सम्यक्त्व की प्रशंसा है वह भी स्वयं मंगलरूप है। सम्यग्दर्शन स्वयं ही मंगलरूप है। गाथा में पहला शब्द है 'जिन', वह भी मंगलरूप है—

जिन उक्तं शुद्ध सम्यक्तं, साध्यं भव्य लोकयं।
तस्यास्ति गुण निरूपं च, शुद्ध साध्यं बुधेर्जनैः ॥२५॥

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित निर्दोष शुद्ध सम्यग्दर्शन भव्य जीवों को साधने योग्य है। अनन्त गुणों की खानि रूप जो आत्मस्वभाव है वह सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में झलकता है, शुद्ध सम्यक्त्व व आत्मा का शुद्ध स्वभाव बुधजनों के द्वारा साध्य है। बुद्धिवान सम्यग्ज्ञानी महात्मा सम्यक्त्व से शुद्ध आत्मा को साधते हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव के आगम का यह उपदेश है कि किसी भी तरह प्रयत्न करके अपने अन्तर में निश्चय अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये। जहां निश्चय सम्यक्त्व हो वहीं पर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश अर्थात् प्रगट अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन के द्वारा सम्यग्ज्ञानी महात्मा ही शुद्ध वस्तु को साध्य करते हैं और वे ही मुक्ति पद को पाते हैं।

देखिये.......... यह निश्चय सम्यक्त्व की महिमा !

श्री तारणस्वामी ने इस गाथा में 'जिन उक्तं' ऐसा कहकर भगवान का स्मरण किया है। परम वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिन स्वयं मंगलरूप हैं, और अपने ज्ञान में उसका जो निर्णय किया वह भी मंगल है। भगवान की आत्मा को द्रव्य-गुण में जिनत्व त्रिकाल था,—परम सर्वज्ञता की सामर्थ्य सर्वज्ञ शक्ति में

भरी थी, उसको पर्याय में प्रगट करके वे साक्षात् जिन-सर्वज्ञ हुये। ऐसे जिन भगवान के सदृश ही यह आत्मा है। तारण-स्वामी बार-बार कहते हैं कि 'अप्पा सो परमप्पा'।

"जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म,
यही वचन सें समज ले, जिन प्रवचन का मर्म।"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

ऐसे जिन स्वरूप आत्मस्वभाव का निर्णय करने वाले को भगवान जिनेन्द्रदेव के प्रति बहुमानभक्ति का भाव आता है। सिद्धप्रभु को वाणी नहीं, अरिहन्त जिनको वाणी का योग है, इसलिये 'जिनोक्तं' कह करके भगवान जिनेन्द्रदेव के उपकार का स्मरण और बहुमान किया है। जो जीव वीतराग देव के कहे हुये तत्व को समझा है वह जिनदेव के उपकार को भूलता नहीं है।

जिन भगवान का कहा हुआ शुद्ध सम्यक्त्व ही जगत में सार है; इसके बिना चाहे जितना दूसरा जानपना हो लेकिन शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट न किया तो वह सब निःसार है। शुद्ध सम्यक्त्व का अर्थ है स्वाश्रित निश्चय सम्यक्त्व। देव-गुरु की ओर के श्रद्धा के राग को सम्यक्त्व कहना सो अशुद्ध सम्यक्त्व है, व्यवहार है। शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति शुद्ध सम्यक्त्व है, उसके साथ व्यवहार हो भले लेकिन वह आदरणीय नहीं। एक रूप ज्ञायक-भाव सन्मुख हो करके जो सम्यक् अनुभव सहित प्रतीति होती है वही शुद्ध सम्यक्त्व है, और वही बुधजनों को आदरणीय है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व सहित देव-गुरु-शास्त्र को श्रद्धा होना सो व्यवहार है। व्यवहार पराश्रित रागरूप होने से अशुद्ध है, इसलिये अकेले व्यवहार का राग करते करते उसके

द्वारा शुद्ध सम्यक्त्व हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

कारण—कार्य की शुद्धता के बारे में श्री तारणस्वामी ८० वीं गाथा में कहते हैं कि—

कारणं कार्य्य सिद्धं च, तं कारण कार्य उद्यमं।
स कारणं कार्य शुद्धं च, कारणं कार्य सदा बुधैः ॥८०॥

कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण वह है कि जिससे कार्य सिद्धि का पुरुषार्थ हो सके। यहां मोक्ष के साधन में कारण और कार्य दोनों ही शुद्ध हैं। बुद्धिमान जनों को सदा शुद्ध कारण का सेवन करना चाहिये।

देखो, यह कारण-कार्य की बात! शुद्ध कार्य का कारण भी शुद्ध ही होता है। राग तो अशुद्धता है; राग कारण और शुद्धता उसका कार्य, ऐसा हो नहीं सकता। अथवा, व्यवहार सो कारण और निश्चय उसका कार्य, ऐसा भी नहीं होता। व्यवहार करते करते निश्चय की प्राप्ति हो जायगी। ऐसा कारण-कार्यपन निश्चय व्यवहार को नहीं है। मोक्ष तो पूर्ण शुद्धता है, उसका कारण भी शुद्ध (निश्चय रत्नत्रय) ही है❀। शुद्ध कारण से शुद्ध कार्य होता है और अशुद्ध कारण से अशुद्ध कार्य होता है। कारण वह है जिसके द्वारा कार्यसिद्धि का उद्यम हो। शुद्ध सम्यक्त्व रूप कार्य राग से तो सिद्ध नहीं होता, इसलिये राग उसका कारण नहीं। व्यवहार का जो विकल्प है वह शुद्ध सम्यक्त्व का कारण नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा का अवलंबन लेने से शुद्ध सम्यक्त्वादि

❀ "मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समजाव्यो संक्षेप मां, सकल मार्ग निर्ग्रंथ॥"
श्रीमद् राजचन्द्र (आत्मसिद्धि)

कार्य होता है। यही शुद्ध कारण है। समयसार में आचार्य-देव ने महान सिद्धांत कहा है कि—

'भूयत्थ मस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो'

भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है। अहा, इस समयसार में तो बहुत शास्त्रों के बीज आचार्य देव ने बो दिये हैं। ऐसा कभी नहीं बन सकता कि कारण अशुद्ध हो और उसके सेवन से शुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो जाय। राग के सेवन करते करते शुद्धता कभी भी नहीं हो सकती। श्री जिन भगवान के कहे हुये सम्यक्त्व के कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं, उनको जान करके बुद्धिमानों को सदा उनका सेवन करना चाहिये। बुद्धिमान जीवों को, जिज्ञासु जीवों को, आत्मार्थी जीवों को अंतर स्वभाव के सन्मुख के पुरुषार्थ को शुद्ध कारण समझना चाहिये, और जो पराश्रित भाव हो उसको अशुद्ध समझ करके उसका सेवन छोड़ना चाहिये।

"निश्चय सम्यक्त्व की बात हमें मालूम नहीं पड़ती, इस-लिये पहले सम्यक्त्व के बिना ही व्यवहार चारित्र—महाव्रत ले लो, यह व्यवहार चारित्र करते करते भविष्य में कभी भी निश्चय सम्यक्त्व हो जायगा"—ऐसा यदि कोई प्रतिपादन करे तो उसे जिनोक्त सम्यक्त्व की या उसके कारण कार्य की खबर नहीं है। समयसार हो या ज्ञान समुच्चयसार हो, भगवान के कहे हुये कोई भी शास्त्र हों, उनमें भगवान के कहे हुये ज्ञान का सार तो एक ही है कि अंतर्मुख होकर शुद्ध कारण का सेवन करना चाहिये।

'ममल पाहुड' (भाग २ पृष्ठ १५२) में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि यहां ध्रुव शब्द का प्रकाश हुआ है अर्थात् ध्रुव शब्द

के वाच्य ध्रुव आत्मा का प्रकाश हुआ है। यहाँ समताभाव मयी आत्मा के शुद्ध भाव का आनन्द हो रहा है। यहां ध्रुव ज्ञान का उदय हुआ है। शुद्ध आत्मा में रमण करना ही ध्रुव आत्मा का दर्शन है। ध्रुव पद-अविनाशी पद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके अनुभव रूप शुद्धोपयोग की अनेक गाथाओं के द्वारा बहुत महिमा बताई गई है। स्वानुभव रूप शुद्धोपयोग में ध्रुव पद प्रगट होता है अर्थात् वह प्रगट अनुभव में आता है। पृष्ठ १४७ में कहते हैं कि "परम सुखदायी सिद्धपद के लाभ के लिये भव्य जीव का परम कर्तव्य है कि वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्मा का अनुभव करता चला जावे। जितना जितना आत्मानन्द का साधन है वह विकारों का हटाने वाला है, कषायों का मिटाने वाला है, वही कर्मों की निर्जरा करने वाला है व वही मोक्ष-नगर में पहुँचाने वाला है। आत्मानुभव ही यथार्थ मोक्षमार्ग है व जिनधर्म है। आत्मा को छोड़कर और कोई सुन्दर वस्तु नहीं है।

'ध्रुव' शब्द के द्वारा ध्रुव आत्मस्वभाव को प्रकाशित किया है। उस आत्मस्वभाव के सन्मुख होने से समताभाव रूप आत्म-आनन्द होता है। ऐसे स्वभाव को भगवान की वाणी ने प्रकाशित किया है। तारणस्वामी कहते हैं कि स्वानुभव ही संसार से तारने वाला है, और स्वानुभव रूप जो मोक्षमार्ग है उसका गुप्त ज्ञान अनुभवी ज्ञानी सन्तों ने प्रगट किया है। जहां अपने को निज स्वभाव का भान हुआ वहां निमित्त से ऐसा भी कहने में आता है कि भगवान की और सन्तों की वाणी ने आत्मा को प्रकाशित किया,-ऐसी व्यवहार की रीति है।

ध्रुव आत्मा के प्रकाश से अर्थात् अनुभव से मोक्षमार्ग की

सिद्धि होती है। ऐसे आत्मा का शुद्ध सम्यक्त्व भव्यजीवों को साधने योग्य है। साधने योग्य क्या है?—कि आत्मा का शुद्ध सम्यक्त्व, योग्य सुपात्र जीव उसको साधते हैं, अभव्य जीव ऐसे सम्यक्त्व को कभी नहीं साधते। अज्ञानी शुभ राग को-पुण्य को साध्य मानकर उसी में रुक जाते हैं। धर्मात्मा को शुद्ध सम्यक्त्व में ज्ञानपुञ्ज आत्मा झलकता है, प्रतीति में आता है, अनुभव में आता है। बुधजनों को ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व साध्य है। वे शुद्ध स्वभाव के अवलंबन से शुद्ध का साधन करते हैं। शुद्ध के साधन में अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साधन में राग का-अशुद्धता का अवलंबन है ही नहीं।

'बुधैः जनैः शुद्धं साध्यं' बुधजनों को अर्थात् बुद्धिमान मुमुक्षु जीवों को शुद्ध स्वरूप का ही साधन करना चाहिये, बीच में रागादि आवें उनको साधन नहीं मानै और न उनको साध्य भी करना चाहिये। जो जीव राग को शुद्धता का साधन मानता है वह वास्तव में बुद्धिमान नहीं है किन्तु मूर्ख है। श्रद्धा में, ज्ञान में एवं चारित्र में साध्य तो शुद्ध आत्मा ही है। सम्यग्ज्ञानी महात्माओं ने शुद्ध वस्तु ही साध्य की है। अंतरंग में ऐसे शुद्ध वस्तु स्वभाव की प्रतीत करने से शुद्ध सम्यक्त्व होता है, यही प्रथम कर्तव्य है और वह मंगल है।

मोक्षार्थी को सबसे पहले सम्यग्दर्शन आवश्यक है। बिना सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता। ज्ञान और व्रत-तप सबके सब सम्यग्दर्शन के बिना नीरस हैं, निःसार हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व की श्रेष्ठता जानकर मुमुक्षु का उसके लिये प्रयत्न करना कर्तव्य है। किसको सम्यग्दर्शन होता है यह बात छब्बीसवीं गाथा में कहते हैं—

तं सम्यक्त्वं उक्तं शुद्धं केरि संकेन रूवं ।
तं सम्यक्त्वं तिष्ठियत्वं कध्यवासं वसंतं ॥
उत्पन्ने कोपि स्थानं श्रेष्ठ प्रौढ प्रमाणं ।
तं सम्यक्त्वं कस्य क्रान्तं कस्य दृष्टि प्रयोजनं ॥२६॥

वह सम्यक्त्व निश्चय से शुद्ध बुद्ध स्वरूप है, तीन भुवन में वह श्रेष्ठ है। वही सम्यक्त्व शुद्ध कहा जाता है कि जहां आत्म-स्वरूप में कोई शंका नहीं है। ऐसे सम्यक्त्व में स्थिर-दृढ़ रहना चाहिये। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति किसी भी स्थान में हो सकती है। चाहे भगवान के समवसरण में हो या नरक वास में हो, किसी भी स्थान में हो किन्तु अंतर्मुख स्वभाव में दृष्टि करके निःशंक प्रतीत करने से किसी भी स्थान में सम्यग्दर्शन होता है। गृहवास में हो या स्त्री पर्याय में हो उसे भी शुद्ध आत्मा के साधन से सम्यक्त्व होता है, यह सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है, प्रौढ है अर्थात् विवेक से भरा है, भेद ज्ञान रूप विवेक सहित है एवं प्रमाण रूप है। बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान या चारित्र कोई प्रमाण रूप नहीं, सम्यग्दर्शन सहित हो तब ही प्रमाण रूप है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व का प्रकाश किसी विरले जीव को ही होता है। किसी विरले जीव की ही दृष्टि अपने अर्थ के ऊपर-प्रयोजन भूत वस्तु स्वभाव के ऊपर जाती है। सम्यग्दर्शन परम अद्भुत रत्न है, किसी निकट मोक्षगामी भव्यजीव को वह प्रगट होता है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करके दृढ़ता से उसकी आराधना करनी चाहिये।

सम्यग्दृष्टि यथार्थ वस्तु स्वरूप को देखता है, मिथ्यादृष्टि अर्थ का अनर्थ करके वस्तु स्वरूप को विपरीत मानता है, वस्तु स्वरूप को मानना या विपरीत प्ररूपण करना चोरी है,—ऐसा तारणस्वामी गाथा ३५० में कहते हैं, देखिये—

स्तेयं पद रहियं, जिन उक्तं च लोपनं जाने ।
अनेय व्रत धारी स्तेयं सहाव रहियेन ॥३५०॥

आगम के पदों का कुछ का कुछ विपरीत अर्थ करके जिनोक्त कथन को लोपना, छिपाना इसे चोरी जानो। और आत्मस्वभाव में रमणता रहित एवं आत्मज्ञान से शून्य होने पर भी अनेक व्रत आदि धारण करके अपने को मुनि समझना यह भी चोरी है। उसने कौन सी चोरी की ? उसने वीतरागी स्वभाव की चोरी की। व्रतादि राग को धर्म मान करके वह अपनी आत्मा को ठगता है इससे वह चोर है। मिथ्यात्व सहित होने पर भी जो अपने को व्रती या साधु मानता है वह अपनी आत्मा को ठगता है और व्रत के तथा साधु दशा के यथार्थ स्वभाव का लोप करता है इससे वह चोर है। और अपने को साधु मनवाकर दूसरे लोगों को भी वह ठगता है।

देखो, यह परमार्थ चोरी की व्याख्या, जिनोक्त अर्थ का लोपन करना चोरी है अर्थात् मिथ्यात्व ही बड़ी चोरी है। 'जिनोक्तं.......जिनोक्तं' ऐसा स्थान स्थान पर कह करके तारण-स्वामी ने जिनेन्द्र भगवान का बहुमान किया है। जिनोक्त अर्थात् जिन भगवान के कहे हुये आगम के यथार्थ कथन को और उसके भावों को छिपाना–लोपना अन्यथा निरूपण करना सब चोरी है। गाथा ३५१ में भी कहते हैं कि—

स्तेयं अज्ञानं, ज्ञानमय अप्प सहाव गोपंति ।
अज्ञानं मिच्छत्तं, तिक्तं स्तेय विपय सुह रहियं ॥३५१॥

अज्ञान है सो चोरी है, ज्ञानमय अपने आत्मस्वभाव का गोपन करता है इसलिये अज्ञान ही बड़ी चोरी है। राग से धर्म

मानने वाला जीव भगवान के मार्ग का बड़ा चोर है, चैतन्य निधान को वह लूट रहा है, राग से धर्म मानने से चैतन्य निधान का लोप होता है। स्वकीय शुद्ध आत्मा को भगवान ने जैसा कहा वैसा जाने नहीं, मानें नहीं और व्रतादिक शुभ राग से ही अपने को धर्मी या मुनि मान ले तो वह जिन शासन का चोर है। जिन शासन में तो भगवान ने व्रत पूजादि को पुण्य कहा है और मोह रहित आत्म-परिणाम को ही धर्म कहा है, इनसे जो विपरीत मानता है वह चोर है। स्वभाव की बड़ी चोरी उसने की, राग से धर्म मानकर उसने आत्मा के ज्ञान स्वभाव का गोपन किया, इतना बड़ा और कोई पाप नहीं। स्वभाव की आराधना से रहित वह जीव अपराधी है-दोषी है।

वैसे ही 'असत्य' की व्याख्या करते हुये गाथा ८४ में तारण-स्वामी कहते हैं कि—

मिथ्या मिथ्या मयं दृष्टं, असत्य सहित भावना।
अनृतं अचेत दिष्टन्ते, मिथ्यातं निगोयं पतं ॥८४॥

मिथ्यात्व से जिसकी दृष्टि अंध है-ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थों के स्वरूप को विपरीत ही देखता है, इससे वह असत्य पदार्थ को ही भाता है। मिथ्या अभिप्राय से वस्तु स्वरूप को जो मिथ्या देखता है और मिथ्या निरूपण करता है वह बड़ा असत्यवादी है, उसका सब कुछ अज्ञान ही अज्ञान है, सब झूठ है। उसको अचेतन और रागादि परभाव ही अपने भासते हैं किन्तु अपना चेतनवंत स्वभाव उसको भासता नहीं। ऐसा जीव असत्य भाव के सेवन से निगोद में रुलता है, उसकी ज्ञान पर्याय अत्यन्त हीन हो जाती है। देखिये यह मिथ्या अभिप्राय का फल! सर्व पापों में बड़ा पाप मिथ्यात्व है और उसका फल

भी बहुत बुरा है। कहां तो मनुष्य पर्याय और कहां निगोद की एकेन्द्रिय पर्याय ? इससे मिथ्यात्व जैसे महापाप से बचने के लिये बुधजनों को चाहिये कि वे स्वभाव के उद्यम से शुद्ध सम्यक्त्व की साधना करें। गाथा ८५ में भी कहते हैं कि—

शुद्ध तत्व स्वयं रूपं, मुक्ति पथ जिन भासितं ।
अन्यो अज्ञान सद्भावं, मिथ्या व्रत तपः क्रिया ॥८५॥

शुद्ध आत्मिक तत्व, जो अपना ही स्वभाव है उसी में लीनता मोक्ष का मार्ग है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, इससे अन्य जो कोई मार्ग है वह अज्ञान स्वरूप है, आत्मानुभव शून्य व्रत, तप, चारित्र सब मिथ्या है।

मिथ्यादृष्टि का दोष जन्मान्ध से भी बहुत बड़ा है, क्योंकि जन्म से अंधा तो पदार्थ को देखता नहीं है लेकिन यह मिथ्यादृष्टि तो चक्षु के होने पर भी पदार्थ के स्वरूप को विपरीत देखता है और अर्थ का अनर्थ करता है। इस तरह मिथ्यात्व ही बड़ा असत्य है। सम्यक्त्व के द्वारा उस असत्य का महा पाप छूट जाता है।

वह शुद्ध सम्यक्त्व ही है जिसमें किसी तरह की शंका नहीं। जहां निज स्वरूप परमात्मा को स्वानुभव पूर्वक निःशंक दृष्टि में लिया वहां धर्मी को उसमें बिल्कुल शंका नहीं रहती,—ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व है। 'मैं ही परम रूपधारी परमात्मा हूँ', ऐसी दृष्टि में धर्मी को जरा भी शंका नहीं उठती। ऐसे स्वरूप की निःशंक श्रद्धा करके उसी में जम जाना यह धर्मी का कर्तव्य है।

ऐसा निःशंक श्रद्धारूप सम्यक्त्व भगवान के समवसरण में भी होता है और सातवें नरक में भी होता है, देव को भी होता

है और तिर्यंच को भी होता है, भोगभूमि हो या कर्मभूमि, विदेह-क्षेत्र हो या भरतक्षेत्र, म्लेच्छखंड हो या आर्य खंड, पुरुष हो या स्त्री–किसी भी जगह योग्य भव्यजीव को सम्यक्त्व हो सकता है। विरले ही जीव अन्तर स्वभाव के साधन से सम्यक्त्व प्रगट करते हैं। अहा यह शुद्ध सम्यक्त्व तीन लोक में श्रेष्ठ है, सार-भूत है, प्रौढ है–महान है, प्रमाण रूप है एवं जिसने ऐसा सम्य-क्त्व प्रगट किया वह धर्मात्मा भी जगत में श्रेष्ठ है, चाहे वह स्त्री पर्याय में हो तो भी वह श्रेष्ठ है, वह सारभूत है, वह प्रौढ है–महान विवेकी है और वह प्रमाण रूप है। इस शुद्ध सम्यक्त्व को सार कहने से ऐसा समझ लेना चाहिये कि जो राग है वह सार नहीं है, व्यवहार है वह भी सार नहीं, श्रेष्ठ नहीं, प्रौढ नहीं है।

ऐसा महिमावंत सारभूत उत्तम शुद्ध सम्यक्त्व कोई सुदृष्टि-वंत विरले जीव को होता है, किसी विरले जीव की ही दृष्टि-शुद्ध तत्व के ऊपर जाती है और उसी को सम्यक्त्व होता है। 'अप्पा सो परमप्पा' ऐसी धर्मी की दृष्टि है—यह बात श्री तारण-स्वामी ने बार–बार बतलाई है।

२७ वीं गाथा में सम्यक्त्व की महिमा और भी बताते हैं—

तं सम्यक्त्वं शुद्ध बुद्धं, तिहुवन गरुअं, अप्प परमप्प तुल्यं।
अव्वावाह अनंतं, अगुरुलघु स्वयं सहजानंदरूपं ॥
रूपातीतं व्यक्तरूपं, विमलगुणनिहि, ज्ञानरूपं स्वरूपं।
तं सम्यक्त्वं तिष्ठियत्वं, तिअर्थ समयं, संपूर्ण शाश्वत पदं ॥२७॥

वह सम्यक्त्व निश्चय से शुद्ध बुद्ध स्वरूप है, शुद्ध बुद्ध स्वरूप आत्मा की प्रतीत रूप सम्यक्त्व है, वह तीन लोक में श्रेष्ठ है,

वह 'अप्प परमप्प तुल्यं'-अर्थात अपनी आत्मा को परमात्मा के तुल्य देखता है, उसमें छोटे बड़े की कल्पना नहीं। देखो, सम्यक्त्व कैसे आत्मा की श्रद्धा करता है यह दिखाया है, अपनी आत्मा को परमात्मा के बराबर देखते हैं, उसमें रंचमात्र फर्क नहीं। कैसा है आत्मा ? बाधा रहित है, अनंत शक्ति से भरपूर है, स्वाभाविक आनंद स्वरूप है,-ऐसे आत्मा की प्रतीत भी आनंद के अनुभव सहित है। आत्मा पौद्गलिक रूप से भिन्न अमूर्त अरूपी है-रूपातीत है, ऐसे आत्मा का ध्यान, सो रूपातीत ध्यान है। स्वानुभव में ऐसा आत्मा प्रगट होता है, वह रूप से अगोचर होने पर भी स्वानुभव से व्यक्त-प्रगट होता है। 'स्वानुभूत्या चकासते' ऐसा जो समयसार के मांगलिक में ही आचार्यदेव ने कहा है वही बात तारणस्वामी ने यहां दिखाई है। और भी कहते हैं कि आत्मा निर्मल गुणों का निधान है, अनंत निर्मल शक्तियों के निधान आत्मा में हैं। उस निधान को स्वानुभव के द्वारा सम्यग्दृष्टि खोलता है, स्वानुभव में अपनी आत्मा को ज्ञानाकार स्वरूप से वह अनुभवता है। ऐसे शुद्ध आत्मा की प्रतीतरूप सम्यक्त्व प्रगट करके बुधजनों को उसी सम्यक्त्व भाव में स्थिर रहना चाहिये। ऐसे सम्यक्त्व के परिणमन से त्रिरत्न सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मय आत्मा पूर्ण अविनाशी पद में विराजित होकर झलक उठता है।

देखिये, यह निश्चय सम्यक्त्व और उसका फल ! शुद्ध सम्यक्त्व कहो या निश्चय सम्यक्त्व कहो, सबके सब पदार्थों में सारभूत शुद्ध अविनासी एक सर्वज्ञ पद है, और वह सर्वज्ञ पद अपने स्वरूप में ही है। ऐसे निज स्वरूप का ध्यान, यह धर्मी का ध्येय है। गाथा ५९ में कहते हैं कि—

शुद्धं च सर्वशुद्धं, च सर्वज्ञं शाश्वतं पदं ।
शुद्धात्मा शुद्ध ध्यानस्य, शुद्धं सम्यग्दर्शनं ॥५९॥

सर्व पदार्थों में शुद्ध और सर्व पदार्थों में उत्तम सर्वज्ञस्वरूप एक अविनाशी शुद्ध चैतन्य पद है, वह ही शुद्ध ध्यान के विषय रूप-ध्येयरूप शुद्ध आत्मा है। और ऐसे शुद्ध आत्मा का ध्यान, वही शुद्ध सम्यग्दर्शन है, ऐसा शुद्धात्मा ही धर्मी का ध्येय है। धर्मी का ध्येय निज स्वरूप है, वह शुद्ध है, अशुद्धता (राग या व्यवहार) वह धर्मी का ध्येय नहीं, उसके आश्रय से किंचित भी लाभ नहीं। सम्यग्दर्शन निश्चय से शुद्ध बुद्ध स्वरूप है और वह तीनों लोक में महान है। "अप्प परमप्प तुल्यं" ऐसा वह देखता है अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मस्वरूप से वह प्रतीत में लेता है।

ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व निर्बाध है, उसको बाधा पहुँचाने में जगत में कोई समर्थ नहीं, वह स्वाभाविक सहज आनंद के अनुभव स्वरूप है। अहा ! सम्यग्दर्शन अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है। सम्यग्दर्शन अपने रूपातीत-अतीन्द्रिय आत्मा को अपने अन्तस्तल में देखता है। रूप से अतीत एवं राग से भी पार,-किन्तु चैतन्य रूप में व्यक्त-अनुभव गम्य जिसका रूप है ऐसा शुद्ध आत्मा सम्यग्दृष्टि के ध्यान का विषय है। वह पुद्गल के रूप से पार है परन्तु स्वकीय चैतन्य रूप से व्यक्त अनुभव में आता है। वह आत्मा विमल गुणों का निधि है। जैसे खानि में से, निधि में से वस्तु निकालते ही रहो फिर भी वह कभी खाली नहीं होते वैसे ही चैतन्य-निधान में से निर्मल पर्यायें लेते ही रहो किन्तु वह कभी खाली नहीं होता। ऐसे अनंत निर्मल गुणों को निधान अपने आत्मा में भरा है उसको सम्यग्दृष्टि देखता है।

परमात्मपन मेरे में ही भरा है, मेरी आत्मा ही परमात्मस्वरूप है, मेरी आत्मा के गर्भ में ही परमात्मपन भरा है—ऐसे स्व संवेदन से धर्मी जीव अनुभवता है। श्री तारणस्वामी कहते हैं कि ऐसे शुद्ध आत्मा की प्रतीत करके शुद्ध सम्यक् भाव में निरन्तर रहना चाहिये। शुद्ध द्रव्य स्वभाव की सन्मुखता से दर्शन ज्ञान चारित्र सहित आत्मा पूर्णानंद में विराजमान होकर अत्यन्त झलक उठता है।



[२]

दूसरा प्रवचन

[वीर सं० २४८८ – आश्विन कृष्ण १२]

सम्यक्त्व के उद्यम का

卐 संतों का सबसे प्रथम उपदेश है 卐

धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान–चारित्र और तप ही सम्यक् होता है। इसलिये यहाँ श्री तारणस्वामी ने सम्यग्दर्शन की महिमा दिखाई है और उसका मुख्य उपदेश दिया है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। इससे सबसे पहिले सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना कर्तव्य है। गाथा १७५ में तारणस्वामी कहते हैं कि बुधजनों को प्रथम सम्यक्त्व का उपदेश करना चाहिये—

प्रथमं उपदेश सम्यक्त्वं, शुद्ध धर्म सदा बुधैः।
दर्शन ज्ञान मयं शुद्धं, सम्यक्त्वं शाश्वतं ध्रुवं ॥१७५॥

सोनगढ़–स्वाध्याय भवन में सेठ भगवानदास जी आदि पूज्य श्री कानजी स्वामी का
प्रवचन सुन रहे हैं।

बुधजनों को सदा ही प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिये। वह सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। शुद्ध दर्शन ज्ञानमय शाश्वत आत्मा की प्रतीति ही सम्यक्त्व है।

देखो, बुधजनों को प्रथम उपदेश सम्यक्त्व का करना चाहिये। सम्यग्दर्शन के पहले व्रतादि नहीं होते। आत्मार्थी जीवों को पहले आत्मा की पहिचान का प्रयत्न करना चाहिये तथा उसी का उपदेश सुनना चाहिये। कोई ऐसा कहे कि व्रतादि करते करते कभी सम्यक्त्व हो जायगा,—तो उसका उपदेश यथार्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है? अर्थात् मेरा शुद्ध आत्मा विभाव से पृथक् कैसा है—इसकी पहिचान के बिना स्थिरता कहां करेगा? सम्यग्दर्शन के बिना शुद्धात्मा में एकाग्रता नहीं होती, और एकाग्रता के बिना मुनि धर्म या श्रावक धर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार मुनि धर्म का या श्रावक धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। कोई राग में-विकल्प में या बाहर की क्रिया में सम्यग्दर्शन नहीं। दर्शन-ज्ञानमय अविनाशी ध्रुव शुद्ध आत्मा है। उसका 'गुण' सम्यक्त्व है। गुण का अर्थ निर्मल परिणति है। गुण त्रिकाल होता है और उसकी निर्मल परिणति नई प्रगट होती है।

ऐसा महिमावंत शुद्ध सम्यक्त्व प्रथम कर्तव्य है—ऐसा कहकर श्री तारणस्वामी उसकी विशेष महिमा २८वीं गाथा में दिखाते हैं—

सम्यक्तं शांत दांतं, वसति भुवनिहि उड्गामी स्वभावो।
उत्पन्नं णंत रूपं, विमलगुणनिहि स्वयं स्वयमेव तत्त्वं॥
सम्यक्तं स्थान शुद्धं, निवसति भुवनिहि पंचदीप्ति परस्थितं।
सम्यक्तं ऊर्द्ध ऊर्द्धं, कदलि पुलिनं गगन गमन स्वभावं॥२८॥

यहां कहते हैं कि सम्यक्त्व निश्चय से शांतिमय है और इन्द्रिय दमन रूप है। चाहे त्यागी होकर जंगल में रहे किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना सच्ची शांति या इन्द्रिय दमन नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य विषयों से अथवा राग से सुख बुद्धि नहीं हटती और इन्द्रिय दमन नहीं होता। जगत की निधि सम्यग्दर्शन में बसती है।

वाह! देखो यह सम्यग्दर्शन की महिमा! सम्यग्दर्शन होते ही जगत की सर्वोत्कृष्ट निधि प्राप्त हो गई। त्रिभुवन का सबसे श्रेष्ठ निधान सम्यग्दर्शन में बसता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वयं ही जगत में सच्चा भंडार है। और वह सम्यग्दर्शन ऊर्ध्वगामी स्वभाव वाला है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव ऊँची ऊँची दशा पाता जाता है और उसकी शुद्धता बढ़ती जाती है, इस तरह सम्यग्दर्शन का स्वभाव उन्नतिशील है।

सम्यग्दर्शन में चैतन्य की अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन होता है इससे सम्यग्दर्शन शान्तिमय है। सम्यग्दर्शन हो और चैतन्य की अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन न हो—ऐसा नहीं बनता। अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप चैतन्य स्वरूप की शांति सम्यग्दर्शन होते ही अनुभव में आती है, और वहां पांचों इन्द्रियों का दमन हो जाता है, सम्यग्दर्शन होने पर जितेन्द्रियपन कहा है। भावेन्द्रियों, द्रव्येन्द्रियों और उनके समस्त विषयों से परे अखंड चैतन्य मूर्ति आत्मा प्रतीति में आते ही इन्द्रिय विषयों में जरा सी भी एकत्व बुद्धि नहीं रहती, अर्थात् श्रद्धा में इन्द्रिय दमन हो जाता है। भले ही अस्थिरता का राग हो, इन्द्रिय विषयों से सर्वथा विरति न हुई हो, तो भी श्रद्धान में तो इंद्रियों से परे अतीन्द्रिय ज्ञानमूर्ति आत्मा प्रतीति में आया है, इंद्रियों से अधिकता अर्थात् भिन्नता भासी है इससे उन्हें इंद्रियों का दमन हो गया है।

अहा, सम्यग्दर्शन होते ही सच्चा चैतन्य निधान उसके अनुभव में आ गया है। जगत का सम्पूर्ण खजाना—सच्चे निधान चैतन्य में भरा है, सम्यग्दर्शन से उसकी प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन होते ही आपने अपने चैतन्य निधान को अपने में ही देखा, अब उसमें एकाग्रता से शान्ति बढ़ती जायगी।

अहो! भगवान सन्तों ने जगत का निधान खोल दिया है। अपना निधान तो अपने पास में ही है लेकिन उसका भान नहीं था, सन्तों ने उसकी पहचान कराई है। एक रूप आत्मा प्रतीति में आने से जहां सम्यग्दर्शन हुआ कि आत्मा ऊर्ध्वगामी हुआ, अब क्रम क्रम से आगे बढ़ता हुआ, शुद्धता की ऊर्ध्वता करते करते केवलज्ञान पाकर के मुक्त होगा। इस तरह सम्यग्दर्शन ऊर्ध्वगामी है। सम्यग्दर्शन होने के बाद आत्मा अधोगति में नहीं ढलता, वह चार गतियों में नहीं पड़ता, किन्तु शुद्धता में ऊंचा ऊंचा चढ़ता हुआ ऊर्ध्वगति रूप सिद्ध पद को पाता है—मुक्त होता है।

सम्यग्दर्शन निर्मल चैतन्य गुणों की खानि है। ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, वैराग्य, इंद्रियदमन या संवर–निर्जरा–मोक्ष ये सब सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होते हैं। 'जहां चेतन वहां अनन्त गुण, बोले केवली यह'—ऐसे अनंत गुणों का निधान सम्यग्दृष्टि अपने में ही देखता है। ऐसा सम्यग्दर्शन आप अपने स्वानुभवरूप है। सम्यग्दर्शन में निज तत्व का स्वयं अनुभव है। यह अनुभव अपने से ही होता है। किसी निमित्त से या विकल्प से यह अनुभव नहीं होता। समयसार के मांगलिक में कहा है कि 'स्वानुभूत्या चकासते'—शुद्ध आत्मा स्वयं अपने स्वानुभव से प्रसिद्ध होता है, अपने से ही अपना अनुभव होता है। राग से शुद्धात्मा का अनुभव या सम्यग्दर्शन नहीं होता। शुद्ध चैतन्य की प्रतीति के

प्रयत्न में अशुद्धता का सहारा है ही नहीं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र ये तीनों शुद्धता रूप हैं और वही मोक्ष का कारण है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र शुद्ध आत्मा के ही अवलंबनसे होते हैं। अंतर्मुख होकर निजतत्व का निरालंबी अनुभव करे तब सम्यग्दर्शन होवे और इसके बाद ही श्रावक का पंचम या मुनि का छठवां सातवां गुणस्थान हो सकेगा। सम्यग्दर्शन के बिना व्रती या मुनि नाम धारण कर बैठे और व्रत महाव्रत पाले तो भी उसका सब मिथ्या है। उसकी श्रद्धा मिथ्या, उसका ज्ञान मिथ्या, उसका आचरण मिथ्या, उसका तप मिथ्या, उसका व्रत तप-त्याग सब ही अरण्यरोदन के समान निष्फल है, मिथ्या है।

श्री तारणस्वामी कहते हैं कि हे भाई ! तेरे बैठने का शुद्ध स्थान तो यह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से तेरे शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लिये विना तू कहां बैठेगा और कहां जमेगा ? और किसके आधार पर तू धर्म करेगा ? तेरे बैठने का स्थान तो चैतन्य धाम है, इसलिये उसको प्रतीति में लेकर के उसमें बैठना (स्थिर रहना) चाहिये। चैतन्य की गद्दी (बैठक) के ऊपर बैठने से मोक्षमार्ग का व्यापार होता है, किंतु राग की गद्दी के ऊपर बैठने से मोक्षमार्ग का व्यापार नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग के व्यापार की गद्दी (बैठक) चैतन्यधाम में है। ऐसे चैतन्य-धाम को प्रतीति में लाने वाला सम्यग्दर्शन भी शुद्ध स्थान है। राग को तो अपद कहा है और सम्यग्दर्शन निज पद है।

फिर भी कहते हैं कि जगत की निधि सम्यग्दर्शन में रहती है, लोक की परमार्थ निधि सम्यग्दर्शन में रहती है। पंच परमेष्ठी का बास भी उसी में है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक ही पंच परमेष्ठी पद की प्राप्ति होती है। पंच परमेष्ठी की सच्ची पहिचान भी सम्यग्दृष्टि को ही होती है, इससे सम्यग्दृष्टि के हृदय में पंच

परमेष्ठी का बास है। अथवा 'पंचदीप्ति' कहने से पंचमन ज्ञान ज्योति (केवलज्ञान ज्योति) का प्रकाश भी सम्यग्दर्शनसे ही होता है।

सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ में श्रेष्ठ है, ऊर्ध्व में ऊर्ध्व है, सब गुणों में मुख्य अर्थात् पहला सम्यग्दर्शन ही है, उसके बिना ज्ञान-चारित्र आदि कोई भी गुण नहीं होते। मोक्षमार्ग में सबसे पहिले सम्यग्दर्शन होता है, उसके पीछे पीछे दूसरे गुण प्रगट होते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सर्वगुणों में ऊर्ध्व है-श्रेष्ठ है-मुख्य है।

श्री तारणस्वामी ने निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप बहुत अच्छा दिखाया है। इन्द्रियों और मन से पार होकर के अपने आपमें एकाग्रता से स्वानुभव करे तब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और उसमें सिद्ध समान आत्मा का अनुभव होता है,—'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। जिस महानुभाव के अंतर में ऐसा सम्यग्दर्शन रूपी रत्न विराजमान है वह जगत में सबसे बड़ा धनवान है, वह जगत में श्रेष्ठ है।

वह सम्यग्दर्शन सम्यग्दृष्टि के हृदय कमल में ऐसा सोहता है-जैसा कि कमल पत्र के ऊपर स्थित जल की बूंद। या कि जैसे पानी के बीच में कमल पत्र अलिप्त रहता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव रागादि परभावों से अलिप्त रहता है। और वह 'गगन गमन स्वभावी' है अर्थात् आकाश की तरह निर्मल भाव रूप परिणमन करने का उसका स्वभाव है। (गमन का अर्थ परिणमन होता है।) जैसे आकाश को मैल या रंग नहीं लगता। वैसे सम्यग्दर्शन में परभाव रूपी मैल नहीं लगता। राग होने पर भी सम्यक्त्व की परिणति उससे अलिप्त रह करके निर्मल रूप से ही परिणमती है। ऐसा सम्यग्दर्शन का उद्यम करना प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन कमलपत्र

की तरह निर्लेप स्वभावी है, और आकाश जैसे निर्मल परिणाम वाला है, उसमें राग का रंग नहीं लगता। प्रथम ऐसे सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करे, यही सन्तों का उपदेश है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का उपदेश यथार्थ होता है। सम्यग्दृष्टि चाहे अव्रती हो या गृहस्थ हो किन्तु उसका उपदेश अनुभव-सहित प्रमाण रूप होता है, क्योंकि उसका ज्ञान सच्चा है। गाथा १६८-१६९ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

अविरतं शुद्धदृष्टी च, उपादेय गुन संजुतं।
मतिज्ञानं च संपूर्णं, उपदेश भव्य लोकयं ॥१६८॥
उपदेशं जिन उक्तं च, शुद्ध तत्व समं ध्रुवं।
मिथ्या मयं न दिष्ठंते, उपदेश शाश्वतं पदं ॥१६९॥

अविरत सम्यग्दृष्टि भी उपादेय गुणों का धारक होता है, उसको यथार्थ मतिज्ञान होता है, हेय उपादेय तत्व के ज्ञान में वह पूरा है, और भव्य जीवों के प्रति उसका उपदेश यथार्थ होता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जैसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है वैसा ही यथार्थ उपदेश देता है। अविनाशी शान्त, शुद्ध आत्म तत्व का यथार्थ उपदेश उसकी वाणी में आता है, उसकी वाणी में मिथ्या उपदेश नहीं होता। शाश्वत अविनाशी चैतन्य पद का वह उपदेश करता है।

देखिये, यह सम्यग्दृष्टि की दशा! अविरत सम्यग्दृष्टि को भी मति श्रुत ज्ञान यथार्थ है, सम्यक् है, सम्पूर्ण श्रुत का रहस्य उसके ज्ञान में आ गया है। उसका उपदेश भी भव्य जीवों के प्रति यथार्थ होता है, मिथ्यादृष्टि का उपदेश यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कदाचित अव्रती हो, राजपाट में हो, स्त्री पर्याय में

हो—तो भी उसका उपदेश यथार्थ होता है, उसमें एक शब्द का भी विरोध नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान ने जैसा कहा वैसा यथार्थ उपदेश वह देता है,—मानों भगवान ही उसके हृदय में विराज कर बोलते हैं। धर्मात्मा के हृदय में जिनेन्द्र देव का वास है, इससे जिनेन्द्रदेव के उपदेश में और उसके उपदेश में रंच मात्र भी फर्क नहीं। भावश्रुत से शुद्धात्मा को जानने वाले समकिती को तो 'श्रुत केवली' कह दिया है, सर्व श्रुतज्ञान का सार उसने जान लिया है।

शुद्ध चैतन्य तत्व राग से परे है, उसको राग से लाभ मानना और राग की—पुण्य की वांछा करना सो मिथ्यादृष्टि का अनंत लोभ है। श्री तारण स्वामी अध्यात्म शैली से लोभ आदिक की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—

लोभं पुन्यार्थं जेन, परिणामं तिष्ठते सदा।
अनंतान लोभ सद्भावं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं ॥१२४॥

पुण्य की प्राप्ति के लिये जिसके अंतर में सदा ही लोभ रहता है उसको अनंतानुबंधी लोभ का सद्भाव जानो। सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धदृष्टि से पुण्य का भी लोभ छोड़ देता है। "अनिच्छक कहा अपरिग्रही, ज्ञानी न इच्छे पुण्य को" ऐसा समयसार में कुंदकुंद स्वामी ने उपदेश किया है। यही बात यहां श्री तारण स्वामी ने कही है। पुण्य की इच्छा रूप मलिन परिणाम भी अनंत लोभ है। ऐसा लोभ जिसको है उसको अनेक प्रकार के नास्तिक भाव के विचार आते हैं। शुद्ध आत्मा की यथार्थ विचारणा उसको नहीं जागती। इसलिये ऐसे परभाव की रुचिरूप लोभ को छोड़कर शुद्ध सम्यक्त्व भाव को ग्रहण करो, क्योंकि अनंतानुबंधी लोभ सहित अर्थात् राग में लोभ बुद्धि सहित चाहे

जितना शास्त्र पढ़ा जाय, चाहे जितना तप तपा जाय और व्रतादि का पालन किया जाय तो भी आत्मज्ञान के विना वह सब व्यर्थ है, इसलिये शुद्ध दृष्टि के द्वारा ऐसा लोभ छोड़ देना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध साधन करता है, राग को वह साधन नहीं मानता। पुण्य की वांछा करना या उसको धर्म का साधन मानना सो अनंतानुबंधी कषाय का कार्य है। सम्यग्दृष्टि कभी भी पुण्य को धर्म का साधन नहीं मानता, इससे उसके अभिप्राय में पुण्य की वांछा नहीं होती। 'व्यवहार का अवलंबन करते करते निश्चय मार्ग की प्राप्ति हो जायगी'—ऐसा मानने वाला राग से लाभ मानता है। राग से—पुण्य परिणाम से हित मानकर उसकी वांछा करना सो पुण्य का लोभ है और वह लोभ अनंतानुबंधी है। जिसका परिणाम सदा पुण्य की रुचि में ही लगा रहता है और जो चैतन्य की रुचि का परिणाम नहीं करता है वह अनंत लोभी है। ऐसा अनंतानुबंधी लोभ सहित मिथ्यादृष्टि जीव शास्त्र पढ़े—पढ़ावे या त्यागी होकर के व्रत तप करे तो भी उसे छोड़ देना योग्य है, उसकी श्रद्धा छोड़ना योग्य है। वीतरागता से लाभ है, उसके बदले में जो राग से लाभ मनावे ऐसे जीवों का संग त्याज्य है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे पुण्य की रुचि रूप अनंतानुबंधी लोभ को छोड़ देता है। पुण्य की रुचि को जो नहीं छोड़ता वह आगम का द्रोही है। भले ही आगम बांचता हो लेकिन भीतर के अभिप्राय में से जो राग की रुचि नहीं छोड़ता वह आगम का द्रोह करता है, आगम की आज्ञा का वह उल्लंघन करता है, भगवान के आगम में उसका प्रवेश नहीं है।

गाथा १११ में कहते हैं कि—

समयं शुद्ध जिन उक्तं, तीर्थं तीर्थ करं कृतं ।
समयं प्रवेश येनापि, ते समयं साध्यं ध्रुवं ॥१११॥

शुद्ध आगम के वक्ता श्री जिनेन्द्रदेव हैं, तीर्थ अर्थात् संसार से तारने वाला रत्नत्रय धर्म है, उसका कथन तीर्थंकर देवों ने किया है। जिस किसी ने उस जिनागम में प्रवेश किया उसने निश्चय आत्मा को साध्य किया है। देखो, भगवान के आगम में प्रवेश करने वाला कैसा होता है?—कि जिसने शुद्ध आत्मा का साधन किया उसने ही भगवान के आगम में प्रवेश किया है। भगवान के आगम में शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का ही विधान है। जिसने ऐसा अनुभव किया उसने ही भगवान के आगम में प्रवेश किया और वह ही भगवान के मार्ग में आया। इस तरह भगवान के आगम में वास्तव में समकिती का ही प्रवेश है। तीर्थंकरों ने आगम में तीर्थ की—रत्नत्रय रूप मार्ग की प्रवृत्ति दिखायी है और उस मार्ग में समकिती का ही प्रवेश है, उसने ही शुद्धात्मा को साध्य करके उसका साधन किया है। जिनागम में प्रवेश करके धर्मात्मा ने क्या निकाला?—ध्रुव साध्य निकाला, शुद्धात्मा को साध्य रूप से प्राप्त किया। जिसने ऐसा साध्य प्राप्त किया उसने ही जिनागम में प्रवेश किया है।

राग का जो पोषण करे वह भगवान का आगम नहीं किन्तु कुआगम है। उसका उपदेश मिथ्या है, कोई भी जीव शास्त्र पढ़ कर के यदि ऐसा आशय निकाले कि राग से लाभ होगा, तो उसने जिनोक्त आगम में प्रवेश नहीं किया किन्तु मिथ्या आगम में ही प्रवेश किया है। निश्चय शुद्धात्मा का ज्ञान तो जिसमें न हो और किसी भी तरह से राग का पोषण जिसमें किया हो—

ऐसे आगम को मिथ्या बुद्धि से लिखा गया मिथ्या आगम समझना चाहिये ।

यहां तो कहते हैं कि जिनागम में प्रवेश करके जिसने शुद्ध आत्मा को साध्य किया उसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया और वह जीव ऊर्ध्व स्वभावी हुआ। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव ऊंचा ही ऊंचा चढ़ता जाता है। सम्यक्त्व में शुद्ध आत्मा का अनुभव झलकता है। स्वभाव की प्राप्ति में (अनुभव में) साधन अपना स्वभाव ही है, दूसरा कोई साधन नहीं। रागादि को जो स्वभाव का साधन कहे वह तो राग की रुचि का पोषक मिथ्या उपदेश है, वह भगवान का मार्ग नहीं। भगवान का मूल मार्ग क्या है इसकी जगत को खबर नहीं। 'मूल मारग सांभलो जिननो रे'.... भगवान का मार्ग वीतराग है और उसका प्रारम्भ भी वीतराग भाव से ही होता है। शुद्ध आत्मा को साध्य करने से ही वीत-रागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है और वही भगवान का मार्ग है ।

सम्यक्त्व की विशेष महिमा करते हुये २९वीं गाथा में कहते हैं कि—

सम्यक्तं कलशशशिनं, सयल गुणनिहि भुवनवृन्द प्रबंधं ।
सम्यक्तं क्रांति कान्त्यं, त्रिभुवननिलयं ज्योति रूपस्य क्रांतिः ॥
तं सम्यक्तं दृष्टि नत्वं, परमपय ध्रुवं शुद्ध बुद्धं चतुष्टं ।
जोयंतो जोग जुक्तं, समय ध्रुव पदं तत्ववेदैः स्ववेद्यं ॥२९॥

देखो, यह सम्यग्दर्शन की महिमा ! यह सम्यक्त्व स्वसंवेद्य है, अर्थात् स्वसंवेदन पूर्वक निश्चय सम्यक्त्व होता है। यह सम्य-ग्दर्शन चन्द्रबिंब के समान उज्ज्वल है, सर्वगुणों की खान है,

तीनों भुवन के प्राणियों से वंदनीक है, और उसकी कांति से (अर्थात् शोभा से) त्रिभुवन प्रकाशित है। सम्यग्दर्शन की महिमा जगत व्यापी है। ऐसा सम्यग्दर्शन अनुभव करने योग्य है। सम्यग्दर्शन कोई बाह्य क्रिया की या विकल्प की वस्तु नहीं है, वह तो स्वसंवेद्य है। स्वसंवेदन सहित शुद्ध चैतन्य की निर्विकल्प प्रतीति सो सम्यग्दर्शन है। सर्व ज्ञान का सार स्वसंवेदन में समा जाता है। जैसे पूर्ण चन्द्र का उदय अंधकार को दूर करे वैसे सम्यग्दर्शन का उदय पूर्ण चन्द्र कलश के समान है। सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड पूर्ण आत्मा है, वह सकल गुणों की खानि है, और सम्यग्दर्शन के पीछे सर्वगुणों की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन तीन भुवन के प्राणियों से वंद्य है, सम्यग्दर्शन धारक जीव भी वंद्य है। सम्यग्दृष्टि चांडाल देह में हो तो भी वह प्रशंसनीय कहा गया है। राख से दबी हुई अग्नि के समान उसका चैतन्यमूर्ति आत्मा देह के नीचे छिपा हुआ है, देव भी उसका आदर करते हैं। मिथ्यादृष्टि बड़ा त्यागी हो और नवमीं ग्रैवेयक तक जावे तो भी उसको प्रशंसनीय नहीं कहते। और सम्यग्दृष्टि चांडाल देह में हो तो भी देव समान है, प्रशंसनीय है। शरीर भले ही स्त्री का हो—(लेकिन आत्मा तो स्त्री कहां है ?)—जिसको सम्यग्दर्शन है वह जीव जगत में पूज्य है—प्रशंसनीय है।

सम्यग्दर्शन की कांति से तीनों जगत प्रकाशमान हैं। जिसने सम्यग्दर्शन किया उसने अपनी आत्मा में क्रांति की, आत्मा की उन्नति की और 'कांति' अर्थात् शोभा भी की। सम्यग्दर्शन की शोभा से—सम्यग्दर्शन के प्रकाश से—सम्यग्दर्शन की कांति से जगत प्रकाशित है। जो कुछ भी शोभा जगत में है वह सम्य-

ग्दर्शन से ही है, सम्यग्दर्शन के बिना जगत में किसी चीज की शोभा नहीं। चौदह भुवन में सम्यग्दृष्टि की महिमा है—

शूरवीर .... तो सम्यग्दृष्टि !
विवेकी .... तो सम्यग्दृष्टि !
वैरागी .... तो सम्यग्दृष्टि !
पंडित .... तो सम्यग्दृष्टि !
प्रशंसनीय .... तो सम्यग्दृष्टि !
धन्य .... तो सम्यग्दृष्टि !
कृत्य–कृत्य .... तो सम्यग्दृष्टि !

इस प्रकार जगत में सर्वत्र सम्यग्दृष्टि की महिमा है। सम्यग्दर्शन रहित जीव स्वर्ग में भी शोभा नहीं पाते, प्रशंसा नहीं पाते, और सम्यग्दर्शन सहित जीव कदाचित नरक में हो तो भी वह शोभा पाता है-प्रशंसा पाता है। नरक में से निकल करके वह जीव सम्यग्दर्शन के प्रताप से तीन लोक का नाथ होगा, और सम्यग्दर्शन रहित जीव स्वर्ग में से निकल कर फिर नरकादि चारों गतियों में रुलेगा। राजा श्रेणिक नरक में गये, किंतु सम्यग्दर्शन के प्रताप से देवाधिदेव तीर्थंकर होंगे और स्वर्ग के इन्द्र आकर उनकी पूजा करेंगे। सम्यग्दर्शन से ही आत्मा की कांति है। आत्मभान के बिना पुण्य से स्वर्ग में जाय तो भी उसमें आत्मा की क्रांति या कान्ति (उन्नति या शोभा) कुछ भी नहीं, उसमें तो आत्मा की हीनता व दीनता है। आत्मा की क्रांति और शांति सम्यग्दर्शन से ही होतीं है, इसलिये मुमुक्षु को ऐसा सम्य-

ग्दर्शन अनुभव करने योग्य है। इसके द्वारा अनंत चतुष्टय मय उत्तम अविनाशी पद की प्राप्ति होती है। जहां सम्यग्दर्शन हो वहां केवल ज्ञानादि शुद्ध चतुष्टय आकर के विराजते हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं भी अविनाशी सुशोभित पद है और वह आत्मा का सच्चा पद है। रागादिक तो विनाशीक हैं, मलिन हैं, वे आत्मा के पद नहीं और उनमें आत्मा की शोभा नहीं। चक्रवर्ती पद या इन्द्र पद भी क्षणिक संयोगी हैं, उनसे भी आत्मा की शोभा नहीं है। सम्यग्दर्शन पद जगत में श्रेष्ठ है, वह निज पद है और उसमें आत्मा की शोभा है।

सम्यग्दर्शन आगे बढ़ करके अनन्त चतुष्टय का निधान प्राप्त करावेगा। प्रथम ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करना मुमुक्षु का कर्तव्य है। योगाभ्यास के उपाय से उपयोग को स्वसन्मुख करके चैतन्य में जोड़ने से सम्यग्दर्शन होता है। उपयोग को अंतर्मुख करके चैतन्य स्वभाव में जोड़ने का ही नाम सच्चा योग है। ऐसे साधन से सम्यग्दर्शन होता है, दूसरा बाहर का कोई साधन नहीं। स्वसन्मुख होकर चैतन्य सागर में डुबकी लगाने से सम्यग्दर्शन का अनुभव होता है। तत्वज्ञानियों के द्वारा वह स्वयं अनुभव गम्य है–स्वसंवेद्य है।—'स्वानुभूत्या चकासते' शुद्ध आत्मा स्वानुभूति के द्वारा प्रकाशमान होता है। यही आत्मा का निश्चय पद है।

अहो, अध्यात्म की भावना में मस्त संतों ने बार–बार अध्यात्मरस का घोलन किया है और मुमुक्षुओं को अध्यात्मरस का पान कराया है। श्री तारणस्वामी अध्यात्म के रसिक थे, उन्होंने सभी बातें अध्यात्मशैली से की हैं। जिसको जो जंचता

है वह बार-बार उसकी भावना भाता है, उसमें उसको बेचैनी नहीं लगती। धर्मी जीव बार-बार अंतर में चैतन्य की भावना करता है, यही उसकी खुराक है। जैसे शरीर के पोषण के लिये लोग रोज-रोज खुराक खाते हैं, उसमें उन्हें अप्रीति नहीं होती, वैसे ही स्वाध्यायादि से आत्मा के आनंदानुभव में बार-बार उपयोग लगाना आत्मार्थी जीवों की खुराक है, उसमें उन्हें अरुचि नहीं होती। अनादि से पर विषय का अभ्यास है उसको बदल कर (उल्टा कर) स्वविषय का बार-बार अभ्यास करने से आत्मा स्वानुभवगम्य होता है। ऐसे अंतर्मुख उद्यम से सम्यग्दर्शन प्रगट करना, यही संतों का प्रथम उपदेश है।

[३]

तीसरा प्रवचन

[वीर सं० २४८८ – आश्विन कृष्णा १३]

卐 सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में अग्रसर है 卐

सम्यक्त्व आचरण प्रथम होता है बाद में ही संयम आचरण होता है।

तारणस्वामी रचित ज्ञान समुच्चयसार में सम्यग्दर्शन का अधिकार चलता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान या चारित्र बिल्कुल नहीं होता। ज्ञान–चारित्र सब सम्यग्दर्शन के बिना व्यर्थ हैं। शुभ राग के पुण्य बांध करके स्वर्ग में जाय तो भी सम्यग्दर्शन के बिना जीव चारों गतियों में भ्रमता है। सम्यग्दर्शन के बिना भव भ्रमण कभी नहीं मिटता। इसलिये प्रथम (मुख्य) उपदेश सम्यग्दर्शन का है, और मुमुक्षु को पहिले उसी का उद्यम करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन क्या है ? यह ३०वीं गाथा में कहते हैं—

सम्यक्त्वं शुद्धगुणं सार्धं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं ।
शुद्धात्मा शुद्ध चिद्रूपं, शुद्धं सम्यग्दर्शनं ॥३०॥

सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मपदार्थ का गुण है, और वह शुद्ध आत्मतत्व का प्रकाशक है। शुद्ध आत्मा शुद्ध चिद्रूप है उसकी प्रतीति करना शुद्ध सम्यग्दर्शन है। शुद्ध सम्यग्दर्शन कोई बाहर की राग की वस्तु नहीं, वह तो आत्मा का ही स्वभाव है, शुद्ध आत्मरूप है। शुद्ध आत्मा का उसी रूप से श्रद्धान व अनुभव करना तो सम्यग्दर्शन है। अभेद रूप से ऐसा भी कहने में आता है कि जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, अर्थात् सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा ही है, कोई भिन्न वस्तु नहीं।

सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा की परिणति है। गुण की निर्मल परिणति को गुण भी कहने में आता है, इससे सम्यग्दर्शन को भी गुण कहते हैं। जो मलिन पर्याय है वह दोष है और निर्मल पर्याय है वह गुण है। यह पर्याय तो नई प्रगटती है, परन्तु जो त्रिकाली गुण है वह नया नहीं प्रगटता, और न उसमें आवरण भी होता है। आवरण होना व प्रगट होना पर्याय में है। गुण की निर्मल पर्याय के प्रगट होने पर ऐसा कहा जाता है कि गुण प्रगटा। मोक्ष या संसार दोनों क्षणिक पर्याय हैं, ज्ञान को आवरण हुआ या ज्ञान प्रगटा ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव में त्रिकाली शक्ति रूप गुण को न तो आवरण होता है और न वह नया प्रगटता है, मात्र उसकी पर्याय को आवरण होता है और पर्याय प्रगटती है। जहां ज्ञान गुण की पर्याय में आवरण हुआ वहां ज्ञान गुण को ही आवरण कह दिया, और जहां ज्ञान गुण की पर्याय प्रगटी वहां ज्ञान गुण ही प्रगटा ऐसा कह दिया। वैसे

ही सम्यग्दर्शन आदि पर्यायों में भी समझ लेना चाहिये। जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही शुद्ध आत्मा है—ऐसे अभेदपन से सम्यग्दर्शन को ही आत्मा कहा है, क्योंकि वह पर्याय शुद्ध आत्मा के साथ अभेद होकर परिणमी है। समयसार में शुद्ध नय की अनुभूति को आत्मा कहा है, और इसी को सम्यग्दर्शन कहा है।

अब, भव्य जीव सम्यक्त्व को साधता है और शुद्ध तत्व को आचरता है—ऐसा गाथा ३१ में कहते हैं—

सम्यक्त्वं साधते भव्यः, शुद्ध तत्त्व समाचरतु।
सम्यक्त्वं यस्य तिष्ठंते, तिअर्थ ज्ञान संजुतं ॥३१॥

भव्य जीव सम्यक्त्व को साधता है और शुद्धात्म-तत्व का अनुभव करता है। जिसके हृदय में सम्यक्त्व तिष्ठता है वह जीव त्रिअर्थ अर्थात् रत्नत्रय एवं केवलज्ञान से संयुक्त होता है। निश्चय सम्यक्त्व में ज्ञान व चारित्र भी गर्भित है, इससे निश्चय सम्यक्त्व का आराधक जीव अल्प काल में ही अवश्य चारित्र दशा एवं केवलज्ञान प्रगट करेगा। इसलिये भव्य जीवों को ऐसे सम्यक्त्व को साध करके शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करना चाहिये।

अन्तर सन्मुख पुरुषार्थ से भव्यजीव सम्यक्त्व को साधता है। अन्तर स्वरूप का साधन करने से ही सम्यग्दर्शन होता है। 'जब कर्म हटेगा तब सम्यग्दर्शन होगा या काललब्धि पकेगी तब होगा'—ऐसा कह कर जो पराश्रय में रुका रहे उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता है। जो स्वसन्मुख होकर पुरुषार्थ करता है उसकी काललब्धि भी पक गई है और कर्म भी हट जाते हैं। चैतन्य मन्दिर में प्रवेश करके पुरुषार्थ से भव्य जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

श्री तारणस्वामी ने अध्यात्मभावना का अच्छा घोलन किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि सन्तों ने आगम में जो कहा है उसी के अनुसार श्री तारणस्वामी ने कहा है। कोई तो आचार्य नाम धारण करके भी ऐसा विपरीत प्ररूपण करते हैं कि 'सम्यग्दर्शन भले ही न हो फिर भी व्रतादि का पुरुषार्थ करो, और सम्यग्दर्शन तो अनायास हो जायगा'। किन्तु यहां कहते हैं कि, व्यवहार करते करते सम्यग्दर्शन होगा—ऐसा प्ररूपण करने वाले अथवा सम्यक्त्व के विना व्रत चारित्र होने का प्ररूपण करने वाले सब कुगुरु हैं, उनका उपदेश मिथ्या है। प्रथम चैतन्य प्रकाशी आत्मा में एकाग्रता पूर्वक प्रयत्न करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे तब ही धर्म का प्रारम्भ होता है और इसके पश्चात् ही व्रत चारित्र होता है।

बाहर देखने में लक्ष्मी वगैरह तो पुण्य से मिल जाती है, लेकिन सम्यग्दर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं कि पुण्य से मिल जाय, वह तो अन्तर के प्रयत्न की वस्तु है। सम्यक्त्व क्या है ? इसकी जिसको पहचान भी नहीं वह जीव सत्य प्ररूपण कहां से कर सकेगा ?

सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मतत्व का समाचरण करता है, वह राग से परे शुद्धात्मा का अनुभव करता है, यही सम्यक्त्व का शुद्ध आचरण है। शुद्ध आत्मा का यथार्थ प्रतीति रूप सम्यक्त्व-आचरण चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को भी होता है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी 'चारित्र प्राभृत' में कहते हैं कि जीव के दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशुद्धि के अर्थ जिन भगवान ने द्विविध चारित्र कहा है। प्रथम सम्यक्त्व आचरण है, सो

जिनदेव के कहे हुये ज्ञान दर्शन की शुद्धिरूप है,—यह सम्यक्त्व के आचरण रूप चारित्र है। और दूसरा संयम के आचरण रूप चारित्र जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। निःशंकितादि आठ आचार युक्त जो शुद्ध सम्यक्त्व आचरण है वह भी मोक्ष के अर्थ होता है अर्थात् वह भी मोक्ष का साधन है। मोक्षमार्ग में पहिले सम्यग्दर्शन कहा है, इससे मोक्षमार्ग में वही प्रधान है। सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट जीव चाहे जितना संयमादि पाले तौ भी वह मोक्ष नहीं पाता। धीर पुरुष सम्यक्त्व के आचरण से कर्मों की निर्जरा करता है और दुःख का क्षय करके मोक्ष को पाता है। सम्यक्त्वाचरण होने के बाद संयमाचरण भी अल्प काल में ही होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर प्रथम उसकी आराधना का उपदेश है।

यहां 'ज्ञानसमुच्चयसार' में भी गाथा २६२–२६३ में कहते हैं कि—जो शुद्धात्मा में रमणतारूप चारित्र है वह दो प्रकार का जानो—एक तो सम्यक्त्वचरण रूप और दूसरा संयमचरण रूप। यहां 'दुविहि चरणं' कहने से निश्चय और व्यवहार ऐसा द्विविधपना नहीं, किन्तु दर्शन आचरण और चारित्र आचरण ऐसा द्विविधपन है। सम्यक् स्वरूप में चलना–परिणमना यह तो सम्यक्त्व आचरण है, और स्वरूप में लीन होकर इन्द्रिय दमन के निरोध रूप वर्तन करना सो संयम आचरण है। उसमें सम्यक्त्व आचरण के बिना संयमाचरण कभी नहीं होता।

सम्मत्त चरन पढमं, संयम चरनं विहोई दुतियं च।
सम्मत्त चरन शुद्धं, पच्छादो संजमं चरनं ॥२६३॥

सम्यक्त्व आचरण प्रथम है और संयम आचरण दूसरा है। शुद्ध आत्मा के श्रद्धान रूप प्रथम सम्यक्त्वचरण है, और बाद में

अर्थात् सम्यग्दर्शन के पीछे पीछे इन्द्रिय-मन के निरोध से संयमचरण होता है। दर्शन-ज्ञान सहित शुद्ध भाव से सम्यक्त्व चरण का अभ्यास करने से कर्म मल प्रकृति छूट जाती है और जीव अचिरेण-अल्प काल में ही मुक्ति को पाता है।

देखिये, यह धर्मात्मा के आचरण !

सम्यक्त्व का चारित्र क्या है ?—शुद्धात्मा की प्रतीति में लेकर निःशंकितादि आठों गुण सहित वर्तन यह सम्यक्त्व का आचरण है, बाद में उसी में लीन होकर वीतरागता प्रगटे यह संयम का आचरण है। दोनों आचरण वीतराग हैं, उनमें राग का मिलान नहीं। समकिती के चारित्र मोह की चार प्रकृति (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ) छूट गई हैं और स्वरूपाचरण चारित्र प्रगटा है, उसका ही नाम दर्शनाचरण है, वह चौथे गुणस्थान में होता है। और ऐसे दर्शनपूर्वक ही चारित्र होता है, इसलिये प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश है।

हे मोक्षार्थी ! शुद्धात्मा के सम्मुख होकर सम्यग्दर्शन का प्रयत्न तेरा प्रथम कर्तव्य है। मोक्षमार्ग का पहला सोपान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन रहित जीव को चाहे जितना ज्ञान-चारित्र हो निरर्थक है, और सम्यग्दर्शन सहित जीव को ज्ञान-चारित्र थोड़ा भी हो तो भी वह महान फल को देता है। इसलिये प्रथम सम्यक्त्व का उपदेश है। गाथा १७५ में कहते हैं कि—

प्रथमं उपदेश सम्यक्त्वं शुद्ध धर्मं सदा बुधैः।
दर्शन ज्ञान मयं शुद्धं सम्यक्त्वं शाश्वतं ध्रुवं ॥१७५॥

बुद्धिमानों को सदा प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिये। वह सम्यग्दर्शन शुद्ध है। दर्शन ज्ञानमय अविनाशी निश्चल शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जो कोई अपना हित

चाहता है ऐसे मोक्षार्थी को प्रथम सम्यक्त्व का प्रयत्न करना कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग का पहला सोपान है। श्रावक रत्नकरंड (अर्थात् श्रावक के रत्नों के भंडार) में समन्तभद्र स्वामी ने पहले सम्यक्त्व का उपदेश दिया है—'दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते'—सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का कर्णधार है, वही मोक्षमार्ग का खेवनहार (ले जाने वाला) है। सम्यग्दर्शन पूर्वक ही ज्ञान चारित्र का उद्यम किया जाता है। सम्यक्त्व के साथ रहने वाला, ज्ञान के बल से यह शुद्धस्वरूपी आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है। तीन लोक में सारभूत, ऐसा यह ज्ञान गुरुप्रसाद से ज्ञातव्य है।

दीपक और प्रकाश की तरह, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति यद्यपि एक साथ होती है तो भी उसमें कारण कार्य-पन गिना जाता है,—सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, इससे सम्यग्दर्शन की मुख्यता है। रत्नत्रय में पहला रत्न तो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वभाव की वस्तु है। निश्चल आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है, विशुद्ध ज्ञान दर्शनमय आत्मा की सानुभव प्रतीति सम्यग्दर्शन है। ऐसी शुद्ध आत्मप्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, उसमें पुण्य-पाप आदि कोई परभाव नहीं आये, वह पुण्य-पाप तो विनाशी और मलिन स्वभाव वाले हैं।

यहां शुद्धात्मा की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है और तत्वार्थ सूत्र में 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है—इन दोनों का एक ही तात्पर्य है। यहां अस्ति से बताया है कि शुद्धात्मा की श्रद्धा ही सम्यक्त्व है, और वहां शुद्धात्मा की अस्ति में पुण्य-पाप आश्रव-बंध की नास्ति है। इस बात को साथ में लेकर तत्वार्थ

श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा। सात तत्वों का श्रद्धान भी तब ही यथार्थ होता है जबकि शुद्धात्मा की ओर झुक कर उसकी श्रद्धा की जाय। सात तत्वों में से एक शुद्धात्मा की प्रतीति करने पर उसमें संवर-निर्जरा-मोक्ष अभेदरूप से आ जाता है और आस्रव बंध की नास्ति प्रतीति में आ जाती है। इस प्रकार शुद्धात्मा की श्रद्धा में सातों तत्वों की श्रद्धा समा जाती है। श्रद्धा का ध्येय या विषय तो शुद्ध अखंड आत्मा ही है, उसकी अंतर्मुख दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है।

देखो ......भैया! यह सम्यग्दर्शन मूल वस्तु है, इससे बार बार इसका प्रसंग चलता है।

कोई जीव व्यवहार को बलवान कहे, और 'बहुत जीवों के समूह व्यवहार के आश्रय से मुक्त हुये'—ऐसा कह के व्यवहार के आश्रय से लाभ बतावे, अथवा निमित्त को बलवान कह के उसके आश्रय से लाभ बतावे तो ऐसा समझना चाहिये कि वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जो जीव मुक्त हुये हैं वे निश्चय के ही आश्रय से मुक्त हुये हैं।*

व्यवहार के आश्रय से कभी भी कोई भी जीव न तो मुक्ति पाया है और न पायेगा। सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग निश्चय के आश्रय से ही है।

मार्ग क्या है? उसकी पहिचान के पहिले श्रद्धा करनी चाहिये, बाद में उसी श्रद्धा के अनुसार चारित्र होता है। जिसकी श्रद्धा ही गलत है उसका चारित्र भी मिथ्या ही होता है। सम्यक् श्रद्धापूर्वक ही सम्यक् चारित्र होता है।

'सम्यक्त्व चरणं पढमं'—पहले सम्यग्दर्शन का आचरण होता

---

*णिच्छयणया सिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं (समयसार २७२)

है। चैतन्य के आश्रय से निर्विकल्प श्रद्धा का जो परिणमन हुआ उसमें अनन्तानुबंधी का अभाव हुआ और स्वरूपाचरण प्रगट हुआ इसी का नाम सम्यक्त्व-आचरण है, धर्म का यह पहला डग है, इसके बिना धर्म मार्ग में एक पग भी नहीं चला जा सकता।

सम्यक्त्व के बाद दूसरा संयम-आचरण है। परमानन्द स्वरूप की प्रतीति व उसमें लीनता यही 'सर्व ज्ञान का सार' है, इसका नाम 'ज्ञानसमुच्चय सार' है।

सम्यक्त्व का जो व्यवहार—आठ आचार है वह पुण्य बंध का कारण है, और परमार्थस्वरूप में निःशंकता-आदि रूप जो निश्चय सम्यक्त्व आचार है वह संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण है। इसी प्रकार जो व्यवहार-चारित्र के आचार हैं वह शुभ राग हैं, वह मोक्ष के कारण नहीं। यहां जो दर्शनाचार व चारित्राचार कहा है वह तो शुद्ध वीतराग है, शुद्धात्मस्वरूप में रमणतारूप है, उसमें देव-गुरु आदि बाह्य पदार्थों का अवलंबन नहीं है, केवल शुद्धात्मा का ही अवलंबन है।

श्रावक को चाहिये कि प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके उसी को ध्यावे। सम्यक्त्व के परिणमन से दुष्ट अष्टकर्म नष्ट हो जाते हैं—ऐसा मोक्षप्राभृत गाथा ८७ में कहा है। वैसे यहां भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के आचरण का अभ्यास करने से जीव अल्पकाल में ही कर्म प्रकृति मल से मुक्त हो जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन के परिणमन से शुद्धता बढ़ती जाती है और अनुक्रम से अल्पकाल में चारित्र भी प्रगटता है, और उसके द्वारा जीव 'अचिरेण लभन्ति निर्वाणं।' सम्यग्दर्शन से चारित्र प्रगट करके जीव अल्पकाल में अवश्य निर्वाण पाता है।

देखो,—यह सम्यग्दर्शन की महिमा !

भव्यजीवों को ऐसे सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिये। त्रिअर्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, उसकी सिद्धि का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग में अग्रसर है इसलिये उसकी आराधना मुमुक्षु का प्रथम कर्तव्य है। मुमुक्षु सदैव शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करे।

अब सम्यक्त्व किसको कहते हैं ? यह बात ३२वीं गाथा में कहते हैं—

सम्यक्त्वं उत्पादते भावं, देव गुरु धर्म शुद्धयं ।
विज्ञानं जे विजानंते, सम्यक्त्वं तस्य उच्यते ॥३२॥

सम्यग्दर्शन शुद्ध देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करता है, जो कोई जीव भेद विज्ञान समझता है उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। अरिहन्त-सिद्ध आदि के आत्मिक गुणों की सच्ची पहिचान सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है, इसलिये कहा है कि सम्यग्दर्शन शुद्ध देव गुरु, धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार गुरु की-मुनिदशा की, तथा रत्नत्रयरूप धर्म की पहचान भी सम्यग्दर्शन पूर्वक ही यथार्थ होती है। पुद्गल से-परभावों से भिन्न शुद्ध आत्मा को जो जानता है उसको ही सम्यग्दर्शन होता है।

देखो, सम्यग्दर्शन किसको कहें ? इसके लिये यह बात विचारने की है।

जहां शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहां देव गुरु धर्म की श्रद्धा भी उसमें आ जाती है। इस प्रकार

निश्चय व्यवहार दोनों साथ दिखाये हैं। सम्यग्दर्शन के होते ही शुद्ध देव गुरु धर्म की वास्तविक पहिचान हो जाती है और शुद्ध भाव प्रगटता है।

जब अपने को चैतन्य का भान हुआ, अनुभव हुआ और शुद्धता का अंश अपने में प्रगट हुआ, तब ऐसी पूर्ण शुद्ध दशा को पाने वाले देव कैसे हों, उस पूर्ण दशा के साधक गुरु कैसे हों, और उसका साधन—अर्थात् वीतराग भावरूप धर्म (रत्नत्रय धर्म) कैसा हो,—इसका भी सच्चा भान हुआ। इस प्रकार सम्यग्दर्शन देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न कर देता है। सम्यग्दर्शन के बिना देव गुरु धर्म की यथार्थ श्रद्धा-पहिचान कहां से होगी?

श्री तारणस्वामी गाथा २६१ में कहते हैं कि—

'ज्ञानं तिलोय सारं णायव्वो गुरु पसाएन'

ऐसा ज्ञान तीन लोक का सार है कि जिस ज्ञान के बल से आत्मा परमात्मा होता है। ऐसा ज्ञान गुरुप्रसाद से जानने योग्य है। देखो, गुरु प्रसाद से जानने का कह के व्यवहार भी दिखाया है। और ज्ञान बल से ही आत्मा परमात्मा होता है ऐसा कह के निश्चय भी दिखाया है। जीव स्वयं ही स्वसन्मुख होकर जब भेदज्ञान प्रगट करे तब ऐसा कहने में आता है कि गुरुप्रसाद से जाना। ऐसे ज्ञान को जिन भगवान ने तीन लोक का सार कहा है।

जिन भगवान ने कहा और गुरुप्रसाद से जाना—ऐसा कह करके देव-गुरु दोनों की बात दिखायी। देव-गुरु ने क्या कहा? देव-गुरु के प्रसाद से जिज्ञासु ने क्या जाना? शुद्ध ज्ञान स्वरूपी आत्मा को जाना। जिसने ऐसे ज्ञान स्वभाव को जाना और उसने ही देव गुरु का प्रसाद प्राप्त किया। जिसने इससे

विपरीत माना उसने न तो देव गुरु को पहिचाना, न उनके उपदेश को जाना और न गुरु का प्रसाद प्राप्त किया।

गुरुप्रसाद से ऐसा ज्ञान स्वभावी आत्मा जानने योग्य है ऐसा कह के देशनालब्धि की भी बात दिखायी। ज्ञानी की देशना झेल के ज्ञान की प्राप्ति होती है। अहो! ऐसा ज्ञान तीन लोक में साररूप है। विश्व में सबसे साररूप अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप व्यक्त आत्मा है, जिसने उसको जाना उसने तीन लोक का सार जान लिया।

हमारे ऊपर अनुग्रह करके हमारे गुरु ने हमको शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया, और उससे हमारे निज वैभव की उत्पत्ति हुई ऐसा समयसार की पांचवीं गाथा में आचार्य देव कहते हैं—

"तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण"

'दर्शाउं एक विभक्त ये मुझ आत्म के निज विभव से'

इसकी टीका में, निज वैभव का विवेचन करते हुए कहते हैं कि निर्मल विज्ञान घन आत्मा में अंतर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञ देव एवं अपरगुरु गणधरादिक से लेकर के हमारे गुरु पर्यन्त के द्वारा प्रसाद रूप में दिये गये शुद्धात्मतत्व के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है उससे निज वैभव का जन्म है। और भी कहते हैं कि निरन्तर झरता—आस्वाद में आता—जो सुन्दर आनन्द—उसकी मुद्रावाला प्रचुर संवेदन स्वरूप स्वसंवेदन से उस निज वैभव का जन्म हुआ है। ऐसे निज वैभव से मैं शुद्धात्मा दिखाता हूँ।

देखो, इसमें तो बहुत रहस्य आचार्यदेव ने भर दिया है। उपादान निमित्त दोनों को इसमें दिखाया है। उपदेशक देव–गुरु

कैसे हैं ?—निज आत्मा में अंतर्मग्न हैं। उन्होंने कैसा उपदेश दिया है ?—शुद्धात्मतत्व का उपदेश दिया है। उसको झेलकर खुद ने क्या किया ?—निरंतर आस्वाद में आने वाले आनन्द की छाप-वाला स्वसंवेदन किया।

धर्मात्मा को देवगुरु के प्रति विनय भाव होता है। जब स्वसंवेदन से स्वयं अनुभव प्राप्त किया तब 'गुरु की कृपा से व गुरु के प्रसाद से वह प्राप्त किया'—ऐसा विनय से कहता है; उसमें पात्रता तो अपनी है। अपनी खुद की तैयारी के बिना जीव अनन्तबार समवसरण में भगवान के पास में गया और गुरु भी अनंतबार मिले, किन्तु उपादान की जागृति के बिना वे देव या गुरु क्या करें ? जीव जब स्वयं जागृत हुआ तब ही देव-गुरु का प्रसाद कहा।

गुरु कैसा हो, यह भी दिखाया है। गुरु ऐसा न हो कि पराश्रय का उपदेश दे। गुरु ने कृपापूर्वक शुद्धात्मतत्व का उपदेश दिया। गुरुप्रसाद से ""जानना"",—क्या जानना ? शुद्धात्मतत्व जानना। शुद्धात्मतत्व का ज्ञान तीन लोक में सार है। ऐसे ज्ञानपूर्वक देव गुरु धर्म की सच्ची पहिचान होती है। अकेली बाह्यवृत्ति से या राग से देव-गुरु-धर्म की सच्ची पहिचान नहीं होती। अज्ञानी जीव भगवान के समवसरण में गया तौ भी उसने भगवान को वास्तव में नहीं पहिचाना। जो वास्तव में भगवान का स्वरूप पहिचाने तो अपने आत्मा की भी पहिचान अवश्य हो जाये। यह बात प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में बहुत ही सरस समझायी है। मेरा परमात्मतत्व मेरे में है, पर चीज का या परभाव का अंश भी मेरे स्वभाव में नहीं है—ऐसा भेदविज्ञान जो करता है उसको ही सम्यग्दर्शन होता है।

ऐसे सम्यग्दर्शन सहित जोव कैसे देव को मानता है ? यह बात श्री तारणस्वामी ३३वीं गाथा में कहते हैं—

देव देवाधि देवं च, देवं त्रिलोक वंदितं ।
ति अर्थं ममयं शुद्धं, सर्वज्ञं पंच दीप्तयं ॥३३॥

रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध आत्मा है सो देव है, वह देवाधिदेव तीन लोक से वंदनीक हैं, इन्द्रादि देवों से पूज्य हैं, सर्वज्ञ हैं, पांचवीं ज्ञानज्योति अर्थात् केवलज्ञान सहित हैं। ऐसे देवाधिदेव को सम्यग्दृष्टि जीव देव के रूप में आदर करता है ।

भगवान अरिहन्त को व सिद्ध परमात्मा को रत्नत्रय की पूर्णता हो गई है, वे सच्चे देव हैं । सम्यग्दृष्टि ने ऐसे देव को यथार्थरूप में पहिचाना है । पूर्ण स्वरूप जिसको प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा तीन लोक में वंद्य हैं और तीन काल तीन लोक के जानने वाले हैं । ऐसी ही शक्ति अपनी आत्मा में भी है । ऐसे देव की प्रतीति में शुद्धात्मा की प्रतीति आ जाती है और वही सम्यग्दर्शन है । ऐसी श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन हो और ऐसी श्रद्धा न हो ऐसा नहीं हो सकता । रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध आत्मा देवाधिदेव है, इन्द्रादि देवों से पूज्य है, सर्वज्ञ है, पंचम ज्ञान से शोभित है,—ऐसे सर्वज्ञदेव की प्रतीति सम्यग्दर्शन में अवश्य होती है ।

सर्वज्ञ कैसा है—और आत्मा में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य कैसी है—इसका निर्णय साधक को अवश्य होता है । 'सर्वज्ञ की बात सर्वज्ञ जानें, साधक उसका निर्णय नहीं कर सकता'—ऐसा कोई कहे तो उसकी बात मिथ्या है, उसको सर्वज्ञ की या साधक दशा की पहिचान ही नहीं । यदि साधक अपने ज्ञान में सर्वज्ञ

के स्वरूप का निर्णय न कर सके तब तो उसे सर्वज्ञ देव की श्रद्धा ही कैसे हो ? और सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कैसा ? अरे, सर्वज्ञ की श्रद्धा का भी जिसको ठिकाना नहीं— 'हमारे से सर्वज्ञ का निर्णय भी नहीं हो सकता'—ऐसा जो कहता है उसको व्रतादि तो होंगे ही कहां से ? सर्वज्ञ पद क्या है— इसकी पहिचान में आत्मा की पहिचान समा जाती है, और आत्मा की पहिचान में सर्वज्ञ पद की पहिचान समा जाती है। ऐसी पहिचान के बाद ही व्रतादि या मुनि दशा हो सकती है।

"जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे···
अनहोनी कबहूँ नहि होसी, काहे होत अधीरा रे···"

इस पद में सर्वज्ञ की एवं आत्मा के ज्ञान स्वभाव की प्रतीति सहित की बात है। सर्वज्ञ की और आत्मा के ज्ञान-स्वभाव की स्वसन्मुख होकर प्रतीति करने से ज्ञान धीरा होता है, पर में कर्तृत्वबुद्धि व आकुलता मिट जाती है। मैं तो ज्ञान हूँ, मैं किसका फेर-फार करूं ? मैं तो पर का अकर्ता—साक्षी ही हूँ—ऐसे स्वभाव की प्रतीति सम्यग्दृष्टि को ही होती है। प्रत्येक आत्मार्थी का प्रथम ऐसा सम्यग्दर्शन ही कर्तव्य है।

[४]

चौथा प्रवचन

[वीर सं० २४८८ – आश्विन कृष्णा १४]

❀ ॐ का वाच्य शुद्ध आत्मा है ❀

卐 अंतर के चैतन्य दरबार में जा और अपनी अनन्त विभूति को देख 卐

❀

यहाँ 'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' में सम्यग्दर्शन का अधिकार चलता है। सम्यग्दर्शन का उद्यम ही मोक्षार्थी का पहला कर्तव्य है। ज्ञानस्वभावी आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुंज है, विकार का अंधकार उसके स्वभाव में नहीं। ऐसे शुद्ध स्वभाव की प्रतीति होना, अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है, और वही स्वरूपाचरण रूप प्रथम धर्म है, इसके बाद ही संयमाचरण रूप चारित्र धर्म होता है। इससे सन्तों ने प्रथम सम्यग्दर्शन की आराधना का उपदेश दिया है।

यहां ३४वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि ॐ पंच परमेष्ठी संयुक्त है—

ॐ वं ऊर्ध्वं सद्भावं, परमेष्ठी च संजुत्तं ।
सर्वज्ञं शुद्ध तत्त्वं च, विंदस्थानं नमस्कृतं ॥३४॥

ॐ यह मंत्र ऊर्ध्व रूप अर्थात् उत्तम रूप ऐसे सत्य स्वभाव का द्योतक है, ऊर्ध्व स्वभावी शुद्ध आत्मा ॐ का वाच्य है। और ॐ मन्त्र में पांचों परमेष्ठी आ जाते हैं। पंच परमेष्ठियों का पहला पहला अक्षर मिल करके ओम्—ॐ बनता है (अशरीरी सिद्ध का अ, अरिहंत का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्, इस प्रकार अ+अ+आ+उ+म्=ओम् बनता है।) उसके ऊपर का बिन्दुस्थान, सर्व विभाव से शून्य ऐसे शुद्ध सर्वज्ञ तत्व का द्योतक है, वह नमस्कार योग्य है ।

ॐ शब्द में पंच परमेष्ठी नहीं हैं, पंच परमेष्ठी तो आत्म-स्वरूप है, ॐ शब्द उसका वाचक है। जैसे शक्कर ऐसा तीन अक्षर का शब्द शक्कर पदार्थ का ज्ञान कराता है किन्तु उस शब्द में तो शक्कर नहीं है। वैसे ॐ शब्द पंच परमेष्ठी के स्व-भाव का वाचक है किन्तु परमेष्ठीपन तो आत्मा की शुद्ध परिणति में है, शब्द में नहीं ।

ॐ यह भगवान की वाणी है, अथवा ॐ यह शुद्धात्मा है, ॐ के दो प्रकार हैं, पहला द्रव्यरूप, दूसरा भावरूप। द्रव्यरूप ॐ शब्द है, वह भावरूप शुद्धात्मा का वाचक है। भावरूप ॐ आत्मा की शुद्ध दशा है । पांचों परमेष्ठी ऊर्ध्वस्वभावी हैं, ॐ उसका द्योतक है। आत्मा की निर्मल दशा के भाव के बिना अकेले ॐ शब्द के जाप जपने से सम्यक्त्वादि का कोई लाभ नहीं होता। ॐ के वाच्यरूप जो शुद्ध आत्मा है उसकी पहिचान से ही सम्य-ग्दर्शन आदि का लाभ होता है ।

चैतन्यमूर्ति आत्मा पुण्य-पापादि परभावों से रहित निर्मल स्वभाव से भरा हुआ है, वह उत्तम है, ऊर्ध्वस्वभावी है, उस उत्तम स्वभाव को दिखाने वाला ॐ है, अथवा भगवान की वाणी रूप ॐ है वह शुद्धात्मा को दिखाता है। अरिहन्त के शरीरादि व बाह्य समवसरणादि तो संयोग रूप हैं, वह ॐ का सच्चा वाच्य नहीं। अंतर में निर्मलदशा सहित जो विज्ञानघन चैतन्यपिंड विराजमान है वही ॐ का सच्चा वाच्य है। भगवान अरिहन्त व सिद्ध परमात्मा एवं पंच परमेष्ठी ॐ के वाच्य हैं। चैतन्य स्वभाव की मर्यादा में लीन होकर उसमें जो चर्या करता है वह आचार्य हैं। 'उप' अर्थात् चैतन्य स्वभाव के समीप में जा करके उसका जो ध्यान अध्ययन करता है वह उपाध्याय हैं। उत्तम चैतन्य स्वभाव में लीन होकर जो चैतन्य-सुधा-रस का पान करता है वह साधु हैं, वह मोक्षमार्ग को साधते हैं। ऐसी निर्मल दशा के धारक आचार्य उपाध्याय साधु का वाचक ॐ है, और शुद्ध आत्मतत्व भी ओम् का वाच्य है। सम्यग्दर्शन के विना ॐ के वाच्य की पहिचान नहीं होती।

यह भगवान आत्मा अपने स्वभाव में बसता है यही उसका वस्तुत्व है। अथवा ज्ञान आनंद आदि अनंत आत्मा उसमें बसते हैं यही उसका वस्तुत्व है। ८०९वीं गाथा में जीव के वस्तुत्व का वर्णन करते हुये श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

वस्तुत्वं वसति भुवने, वस्तुत्वं ज्ञान दंसण अनन्तो।
नन्तानन्त चतुष्टं, वस्तुत्वं तिलोय निम्मलो शुद्धो ॥८०९॥

इस जीव का वस्तुत्व यह है कि वह लोक में बसता है, अथवा अपने अनन्त गुण स्वरूप लोक में बसता है, यह जीव का वस्तुत्व है। जीव में अपने अनंतज्ञान दर्शनादि गुणों का वास

है यह उसका वस्तुत्व है। तीन लोक में निर्मल शुद्ध पदार्थ है ऐसा जीव का वस्तुत्व है। ऐसे वस्तुत्व को पहिचान कर स्व-द्रव्य में बसना ही सच्चा वास्तु है।

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रेमयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व–ये छह सामान्य गुण हैं, ये प्रत्येक पदार्थ में हैं। श्री तारणस्वामी ने जीव के शुद्ध अस्तित्व, वस्तुत्व आदि का अध्यात्म-शैली से वर्णन किया है। आत्मा का वस्तुत्व आत्मा में है, उसके अनन्त गुणों का वास उसी में है। यह जीव लोक में बसता है, लोक का द्रव्य लोक में ही रहेगा, अलोक में नहीं जायगा। परमार्थ से आप अपने चैतन्य भवन में बसता है और बाह्य से लोक भवन में बसता है। लोक की चीज लोक में ही रहे, अलोक में न जाय ऐसा उसका वस्तुत्व है। यह क्षेत्र-अपेक्षा वस्तुत्व कहा। भाव से अपने अनन्त ज्ञान दर्शन में बसता है, यह जीव का वस्तुत्व है। जीव में अपने अनंत दर्शनादि गुणों का वास है, एक समय में अनंत शक्ति उसमें रहती है। चिदानन्द स्वरूप आत्मवस्तु में विकार का वास्तु वास्तव में नहीं है। चैतन्य स्वभाव में विकार का वास नहीं है और विकार में चैतन्यभाव का वास नहीं है। अनन्त ज्ञान–दर्शन–आनन्द और वीर्यरूप चतुष्टय आत्मा में बसता है, यह जीव का वस्तुत्व है। वस्तु में अनन्तगुणों का वास है, कोई वस्तु अपने गुणों से खाली नहीं होती। अनन्तगुण जिसमें बसें उसका नाम वस्तु। भाई! तेरी चैतन्य वस्तु में तेरे अनन्त निर्मल गुणों का वास है। 'जहां चेतन वहां अनन्तगुण, केवली बोले यह।' तेरी चैतन्य वस्तु में पर का वास नहीं, विकार का वास नहीं, किन्तु आनन्द आदि का वास है। तेरी वस्तु का वस्तुत्व विकार से खाली व ज्ञान आनंद से भरपूर है। ऐसी आत्मवस्तु को

स्वसंवेदन से अनुभव में व प्रतीति में लेकर के उसमें बसना यही मोक्ष-मन्दिर का सच्चा वास्तु है।

अहो, चैतन्य का वस्तुपन तीन लोक में निर्मल है, उस जैसी पवित्र वस्तु तीन लोक में कोई नहीं। ऐसी स्ववस्तु को अंतर्-दृष्टि में लेना सो सम्यग्दर्शन है, और यही वस्तुस्वभाव का अपूर्व वास्तु है। जिसने सम्यग्दर्शन किया उसने स्वघर में ही वास किया। अब सादिअनंतकाल तक वह स्वघर में ही सुख पूर्वक रहेगा।

संसार दशा में अशुद्धता व सिद्ध दशा में शुद्धता है, उसमें अशुद्धता वास्तव में चैतन्य के वस्तुस्वभाव का कार्य नहीं, उस में जीव का सच्चा वास नहीं, और जीव के स्वभाव में अशुद्धता का वास नहीं। अशुद्धता वास्तव में त्रिकाली निर्मल गुण का कार्य नहीं है। जो शुद्धता प्रगट हुई उसमें आत्मा वसना है और वही उसका सच्चा रहने का स्थान है। ('उपयोग उपयोग में है, उपयोग क्रोधादि में नहीं है'।)

ॐ का वाच्यभूत शुद्ध आत्मा है। सिद्धसमान, अर्थात् आठ कर्मों से शून्य व चिदानंद स्वभाव से भरपूर, ऐसे सिद्ध-समान शुद्ध आत्मा को जिसने पहिचाना उसने पंच परमेष्ठी को पहिचाना, वह पंच परमेष्ठी का सच्चा भक्त हुआ, उपासक हुआ। ॐ यह सर्वज्ञ भगवान की वाणी है एवं उसके वाच्यरूप भगवान सर्वज्ञ हैं। अपना सर्वज्ञ स्वभाव भी ॐ का वाच्य है। इस तरह ॐ शुद्ध परम तत्व का प्रकाशक है। अर्हंत व सिद्ध भगवन्तों को यह परम तत्व की शुद्धता व्यक्त हो गई है, आचार्य-उपाध्याय-साधु एवं सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा वह शुद्धता व्यक्त करने का उद्यम कर रहे हैं।

सबसे पहिले जीव को स्वसन्मुख होकर के विश्वास होना चाहिये कि मैं जिनेन्द्ररूप हूँ, भगवान जिनेन्द्र के रूप में व मेरे रूपमें कोई फर्क नहीं, मेरा स्वभाव सम्पूर्ण वीतराग-विज्ञान-घन समस्वभावी है,—ऐसे स्वभाव को अन्तर्दृष्टि से देखने से सम्यग्दर्शन होता है, यही मूल-प्रथम धर्म है। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का प्रारम्भ या छुटकारे का प्रारम्भ नहीं होता। चाहे लाखों-करोड़ों णमोकार मन्त्र के जाप जपें परन्तु उसके वाच्यरूप शुद्धात्मा के लक्ष्य के बिना धर्म का लाभ किंचित् भी नहीं होता।

श्री तारण स्वामी ने सम्यग्दर्शन का अधिकार अच्छा लिखा है। धर्म में मुख्य चीज सम्यग्दर्शन है, लेकिन उसको भूल करके बहुत से जीव दूसरी बातों में रुक गये हैं।

भगवान के समवसरण में १२॥ करोड़ दैवी बाजे बजते हैं, यह तो बाहर की चीज है, भीतर में चैतन्य रस की झनझनाहट होकर के अतीन्द्रिय आनंद का जो अनुभव होता है उसमें ही चैतन्य का सच्चा बाजा बजता है। समवसरण में बाहर में दिव्य-ध्वनि का नाद है और धर्मात्मा के अन्तर में—चैतन्य दरबार में दिव्य स्वभाव के अनुभव का अनहद नाद बजता है। समवसरण में दुंदुभी के नाद पर देव लोग प्रगट करते हैं कि—'अरे जीवो! तीन लोक के तारणहार तीर्थंकर परमात्मा यहां विराज रहे हैं, तुम्हें कल्याण करना हो तो यहां भगवान के दरबार में आओ, और भगवान की दिव्यध्वनि का नाद सुनो....' और भगवान की वाणी कहती है कि—तेरे अंतर में चैतन्य दरबार है उसमें जा....और अपनी अनन्त विभूति को देख। जो चैतन्य दरबार में जाता है वह जीव सम्यग्दर्शनादि को लिये विना वापिस नहीं लौटता।

बाहर के समवसरण में जाकर के भी जो अंतर में चैतन्य के अनंत गुण से भरे हुये समवसरण में नहीं गया—स्वभावसन्मुख नहीं हुआ, उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता, और बिना सम्यग्दर्शन कल्याण नहीं होता। भगवान की सभा में बहुत से जीव धर्म पाते हैं इससे उसको 'धर्मसभा' कहा जाता है। और परमार्थ से भीतर में अनंत धर्मों की सभा (समूह) है वह 'धर्म सभा' है। ऐसी धर्मसभा में जो प्रवेश करे वह धर्म लिये विना वापिस नहीं आता, उसको अवश्य सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति होती है।

अब गाथा ३५ में परमेष्ठी भगवंतों के शुद्ध गुणों का कथन श्री तारण स्वामी करते हैं—

परमेष्ठी उत्पन्नं शुद्धं, शुद्ध सम्यक्त्व संजुत्तं ।
तस्यास्ति गुण प्रोक्तं च, ज्ञानं शुद्ध समं ध्रुवं ॥३५॥

भगवान अरिहंत–सिद्ध वगैरह परमेष्ठियों को शुद्ध भाव प्रगट है, वे शुद्ध सम्यक्त्व सहित हैं, अनंत ज्ञान–आनंद आदि गुणों से परिपूर्ण हैं, वीतरागी समभाव सहित शुद्ध अविनाशी ज्ञान उन्हें प्रगटा है। देव के शुद्ध गुणों का कथन करके यहां आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसा है-यह दिखाया है।

प्रत्येक आत्मा में पूर्ण ज्ञान–आनंद शक्ति रूप से भरा है-जैसे छोटी पीपर में तेजी (चरपराहट) भरी है। यह शक्ति अरिहंत सिद्ध परमात्मा पूर्णतया प्रगट कर चुके हैं, प्रदेश-प्रदेश पर अनंत गुण से भरा आत्मा केवलज्ञानज्योति से आनन्दमय सुप्रभात से जग-मगा रहा है। और ऐसा ही स्वभाव इस आत्मा में है। ऐसे शुद्ध अस्तिस्वभाव की पहिचान ही सम्यग्दर्शन है।

'ज्ञान समुच्चयसार' पृष्ठ ४४८ में कहते हैं कि—

अस्ति अस्ति तिलोकं, वर दंसन ज्ञान चरन संजुत्तं ।
दंसेइ तिहुं बनग्गं ज्ञानमयो ज्ञान ससरूवं ॥८०७॥

अस्ति चरन संजुत्तं अस्ति, सरूवेन सहाव निम्मलं शुद्धं ।
त्रिगतं अविगत रूवं, चेयन संजुत्त निम्मलो सुद्धो ॥८०८॥

जीव द्रव्य अस्ति रूप है, वह तीन लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेश का धारक है, उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित है, तीन भुवन को देखने वाला है, ज्ञानमय है—ज्ञानस्वरूप है, चारित्र संयुक्त है—ऐसे अपने निर्मल स्वरूप से जीव शुद्ध अस्तित्व को धारण करता है, वह स्पर्शादि रहित अमूर्त है और चेतना गुण संयुक्त है ।

'अस्ति' एवं 'तिलोकं अस्ति' ऐसा कहके शुद्ध अस्तित्व के साथ साथ तीन लोक प्रमाण प्रदेशत्व भी दिखाया है। जीव के प्रदेश लोक-प्रदेश तुल्य असंख्य हैं, और अनंत गुण से भरा हुआ उसका वस्तुत्व है। लोकालोक को जाने ऐसा उसका लोकप्रमाण स्वभाव है। स्वसंवेदन से जानने में आवे ऐसा उसका प्रमेयत्व है। निर्विकल्प आनन्द सहित प्रमेय हो ऐसा उसका स्वभाव है। उसका प्रदेश असंख्य और गुण अनंत, ऐसा अस्तिस्वभावी चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसका अभ्यास करना चाहिये, बच्चों को भी उसका अभ्यास करना चाहिये। अहो! आत्मा के शुद्ध स्वभावमय निर्मल अस्तित्व की बात दिखाकर अध्यात्म के तरंग उछाले हैं। स्वरूप का ऐसा अस्तित्व समझे तो अंतर में निर्मल ज्ञान-आनंद का तरंग उल्लसित हो ।

अनन्त गुण की शुद्धता से भरपूर जीव का अस्तित्व है, वह जड़रूप से रहित है और निर्मल चेतना सहित है। असंख्य प्रदेश

में सर्वत्र अनंत गुण भरा है। आत्मा में ही देवपने की दिव्य शक्ति है। जितना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगटे उतना देवपना है। ऐसे आत्मस्वरूप की प्रतीति व पहिचान करना सो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

गाथा ५६५ में श्री तारण स्वामी कहते हैं कि—

ववहारं सम्मत्तं, देवगुर सुद्ध धम्म संजुत्तं।
दंसन ज्ञान चरित्तं, मल मुक्कं ववहार सम्मत्तं ॥५६५॥

निर्दोष देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का श्रद्धान सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। निश्चय से अपना शुद्ध आत्मा स्वयं ही देव है, शुद्ध आत्मा की साधक दशा ही गुरु है, शुद्ध आत्मा का स्वभाव (निर्मल चेतना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव) ही धर्म है। आत्मा ही निश्चय से रत्नत्रय-स्वरूप है। ऐसे आत्मा के श्रद्धान के साथ निर्दोष देव गुरु की प्रतीति सो व्यवहार सम्यक्त्व है। राग की उत्पत्ति हिंसा है, और राग रहित वीतराग भाव अहिंसा धर्म है।

शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन पर्याय है और वह शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। देव गुरु की सविकल्प प्रतीतिरूप जो व्यवहार सम्यग्दर्शन है वह असद्भूत व्यवहार नय का विषय है, क्यों कि वह विकल्प सत्स्वभाव में नहीं है इसलिये असद्भूत है। निर्मल पर्याय के भेद को सद्भूत व्यवहार कहा और विकल्प की अशुद्धता को असद्भूत व्यवहार कहा। इस प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग रूप जो रत्नत्रय पर्याय है वह सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना सो तो निश्चय मोक्षमार्ग ही है, व्यवहार नहीं।

किन्तु द्रव्य और शुद्ध पर्याय अभेद होने पर भी भेद करके कहना सो व्यवहार है। इस अपेक्षा से निश्चय मोक्षमार्ग या केवलज्ञानादि चतुष्टय भी व्यवहार नय का विषय है। वे पर्यायें पहिले नहीं थीं और नई प्रगटीं, वे त्रिकाल एक रूप नहीं। जो त्रिकाल एक-रूप स्वभाव-शक्ति से संपूर्ण है वह निश्चयनय का विषय है। उसमें निर्मल पर्याय अभेद रूप से आ जाती है। निश्चय में द्रव्य पर्याय का भेद करना सो भी व्यवहार है। संसार, मोक्ष व मोक्षमार्ग को साधना ये सब व्यवहार के विषय में आते हैं। शुद्ध नय के विषय में तो शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय से एकाकार शुद्ध तत्व ही प्रकाशमान है। नय-प्रमाण से यथार्थ वस्तुस्वरूप समझने से सम्यग्ज्ञान होता है। त्रिकाली द्रव्य क्या है,उसका गुण क्या है, उसकी पर्याय क्या है? उनका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। उसमें निश्चय अर्थात् त्रिकाल एकरूप शुद्धस्वभाव क्या है, और व्यवहार अर्थात् पर्याय के भेद का प्रकार क्या है, सो नय-प्रमाण से यथार्थ जानना वह सम्यग्ज्ञान है। शुद्ध नय से त्रिकाली द्रव्य में प्रवेश करके उसमें से मोक्ष मार्ग की पर्याय का अंश प्रगट किया, उस अंश को व्यवहार कहते हैं। यह धर्मात्मा का शुद्ध चेतना के विलास-रूप व्यवहार है। अन्यत्र पर की श्रद्धा के विकल्प को व्यवहार कहते हैं, ऐसा यह व्यवहार नहीं, यहां तो निर्मल परिणति को व्यवहार कहा है।

अहा! चैतन्य का मार्ग तो सरल है, परन्तु जीव ने कभी उस मार्ग को अंगीकार नहीं किया, उस मार्ग पर जीव कभी नहीं चला। चैतन्य के मार्ग में अन्य किसी की पराधीनता नहीं है, वह स्वाधीन व सरल मार्ग है, परन्तु गुरुगम से उसको जानना चाहिये। गुरुगम से वस्तुस्वरूप का निर्णय करके, वस्तुस्वभाव के सम्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अनुभव करना यही

मोक्ष का मार्ग है, उसमें पंच परमेष्ठी की पहिचान व उपासना आ जाती है।

आत्मा का स्वभाव शरीरादिक से व रागादिक परभावों से अलिप्त है-यह बात गाथा ३६ में श्री तारण स्वामी दृष्टांत पूर्वक कहते हैं: -

पयकमले कदलं, कदले पुलिनं, जं जानुस्थितं पुलिने गगनं।
गगने कलशं, तं ऊर्ध्वगुनं, कलशे शशिनं, शशिने भवनं।
तं धर्म पदं, परमेष्टि पदं, तं पंच दिप्तं, ध्रुव केवलि उवनं ॥३६॥

जैसे कमलपत्र पानी में रहता है तो भी पानी को स्पर्श नहीं करता, तथा कमलपत्र के ऊपर जल की बून्द है तो भी वह कमलपत्र को स्पर्श नहीं करती और जल की बून्द में आकाश है तो भी उस से आकाश अलिप्त है-ऐसे दृष्टांतों के अनुसार भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा देह में रहता हुआ भी देह को नहीं छूता, राग को भी नहीं छूता, देह से व राग से वह अलिप्त है, आकाश जैसा अलिप्त है। जहां पानी है वहां आकाश है तो भी पानी आकाश को नहीं छूता, आकाश पानी के स्पर्श से रहित है, वैसे ही चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा निर्मल आकाश जैसा अलिप्त है, वह जड़ देह को स्पर्श नहीं करता। देह के साथ जल-कमल वत् एक क्षेत्र में रहने पर भी आत्मा देह को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। जैसे कलश में चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखता है तो भी चन्द्र तो कलश से पृथक् ही है, वैसे कलश जैसा इस देह-घट में चैतन्यचन्द्र पृथक् है। चन्द्रविमान में रहा हुआ चन्द्र जैसे चन्द्रभवन से अलग है वैसे ही इस देहविमान में भगवान आत्मा ऊर्ध्व चैतन्यस्वभावी है, वह देह से अलग है। ऐसा निजात्मा

ही अरिहंतादि परमेष्ठी पद का आधार है और वही केवलज्ञान का धाम है, परमेष्ठी पद व केवलज्ञानादि उसमें से ही निकलते हैं। बाहर में पंच परमेष्ठी पद को पूजे किन्तु अन्तर में अपनी आत्मा में ही परमेष्ठी पद की शक्ति भरी है–उसका जो विश्वास न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। अरे जीव! तेरे पद को तू क्यों बाहर ढूंढता है? सर्वज्ञ पद पाने की सामर्थ्य तेरे स्वभाव में भरी है। जैसे कस्तूरी की सुगंधि मृग की नाभि में ही भरी है तो भी अज्ञान से वह उसे बाहर ढूंढता है, वैसे आत्मा में केवलज्ञान प्रकाश भरा है, उसमें से ही ध्रुव अविनाशी केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, केवलज्ञान बाहर से नहीं आता, तो भी अज्ञानी व्यर्थ ही बाहर साधन को ढूंढ़ता है और दुःखी होता है।

केवलज्ञान प्रकाश से भरपूर ऐसे शुद्ध आत्मा की स्व–आश्रय से प्रतीति करना, उसमें से केवलज्ञानादि चतुष्टय एवं पंच परमेष्ठी पद की उत्पत्ति होती है। अंतर में असाधारण स्वभाव भरा है, उसके साधन से–उसके अवलंबन से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्राप्त होता है। बाहुबली भगवान ने अपने ऐसे ध्रुव स्वभाव में से केवलज्ञान प्रगट किया,–न कि वज्रकाय वाले बलवान शरीर में से। एक ही अबाधित सिद्धान्त है कि सर्व शक्ति का धाम, ऐसा जो अपना आत्मस्वभाव, उस में अंतर्मुख होकर, उसी के ही अवलम्बन से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र व मोक्ष सध जाता है, अन्य कोई मार्ग नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं।

[५]

पांचवां प्रवचन

[वीर सं २४८८ आश्विन शुक्ल १]

भगवान के सर्व उपदेश का सार—
卐 शुद्धात्म सन्मुखता 卐

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका अंतर्मुख अनुभव करना, यह ज्ञान का सार है और यही मोक्षार्थी जीव का कर्तव्य है। उसका यह वर्णन है। प्रथम शुद्धात्मा की श्रद्धा से शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगट करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हुये श्री तारण स्वामी कहते हैं कि :—

शुद्धं च सर्व शुद्धं च, सर्वज्ञं शाश्वतं पदं ।
शुद्धात्मा शुद्ध ध्यानस्य, शुद्धं सम्यग्दर्शनं ॥५९॥

शुद्ध, सर्व पदार्थों में शुद्ध और सारभूत सर्वज्ञ स्वरूप अविनाशी चैतन्य पद है। यह चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा ही शुद्ध ध्यान

का ध्येय है। ऐसे शुद्धात्मा का ध्यान ही शुद्ध-निश्चय सम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्धात्मा को स्वसंवेदन में लेकर उसकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्धात्मा को जानकर उसकी भावना करना वही बारह अंग रूप (द्वादशांग) सर्वश्रुत ज्ञान का सार है। ऐसे शुद्धात्मा का जो अनुभव करता है वही मोक्षमार्गी है, वही मोक्षमार्ग को साधता है। मोक्षमार्ग शुद्धात्मा के अनुभव से साधा जाता है।

भैया! पहिले निश्चित तो कर कि तेरा ध्येय क्या है? श्रद्धा में व अनुभव में लेने योग्य चीज क्या है? यही बात यहां पर बताते हैं।

इस जगत में जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल ऐसे छह शुद्ध द्रव्य हैं, उनमें भी शुद्ध श्रेष्ठ-उत्तम तो सर्वज्ञ स्वभावी आनन्दमूर्ति आत्मा ही है। जगत का जाननेवाला जीव ही जगत के पदार्थों में उत्तम व सारभूत है। विभाव रहित सर्वज्ञ स्वभावी शुद्ध आत्मा सारभूत है-उसकी प्रतीति व अनुभव करना ही शुद्ध मोक्षमार्ग है। यह देह तो जड़ है, अपने भीतर के रागादि मलिन भाव भी साररूप नहीं हैं। अंतरंग में सर्वज्ञता की सामर्थ्य से भरा हुआ अविनाशी आत्मा ही शुद्ध व सारभूत है। उसमें अन्तर्मुख होने से अविनाशी सर्वज्ञ पद की प्राप्ति होती है। ऐसा शुद्ध आत्मा ही शुद्ध ध्यान का ध्येय है। उसकी अभिमुखता से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र भी उसकी अभिमुखता से ही होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही शुद्ध आत्मा के ध्यान में समा जाते हैं। कोई शुभ राग से सम्यग्दर्शनादि हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। राग तो पर समय है, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति शुद्ध चैतन्यस्वभाव में अर्थात् स्व-समय में एकाग्रता से होती है।

शुभाशुभ परिणाम में एकाग्रता यह पर समय है, उसमें लाभ मानना मिथ्यात्व है। संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है और मोक्ष का मूल कारण सम्यक्त्व है। सर्वज्ञ शक्ति से भरपूर निजात्म में एकाग्र होकर, अभिमुख होकर, उसमें उपयोग लगा कर निर्विकल्प प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है, हरेक मुमुक्षु को सबसे प्रथम उसका ही उद्यम करना निरन्तर कर्तव्य है।

'श्रावकाचार' में श्री तारण स्वामी कहते हैं कि:—

विज्ञानं यो विजानन्ते, अप्पा पर परीक्षया।
परिचये अप्पसद्भावं, अन्तरात्मा परीक्षयेत् ॥४९॥

आत्मा की व पर की परीक्षा करके जो जीव सूक्ष्मतापूर्वक दोनों का भेदविज्ञान करता है वह भेदविज्ञान करके क्या करता है ? वह शुद्धसत्ता स्वरूप अपने आत्मस्वभाव का परिचय करता है-अनुभव करता है वह जीव अन्तरात्मा है ऐसा जानिये।

आत्मा की व पर की परीक्षापूर्वक स्व-पर को यथार्थ जाननेवाला विज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। शरीरादिक से भिन्न व रागादिक पर भावों से पर, ऐसा अपना पूर्ण सर्वज्ञ शाश्वत पद क्या है—इसको अन्तर में परीक्षापूर्वक निर्णय करके स्वानुभव से पहचानना चाहिये। ऐसा करे तब ही सम्यग्ज्ञान होता है व मोक्षमार्ग साधने में आता है।

चेतन क्या व जड़ क्या ? आत्मा क्या व पर क्या ? स्वभाव क्या व विभाव क्या ? आस्रव-बंध क्या व संवर-निर्जरा क्या है ? सर्वज्ञता कैसी है ? व उपादान-निमित्त कौन है ?— ऐसे सब तत्वों को परीक्षा से, युक्ति से, न्याय से पहचानकर

शुद्ध आत्मा का निर्णय करना चाहिए। और इसके निर्णयपूर्वक अंतर में परिचय से यही अन्तरात्मा है, यही मेरा स्वभाव है, यही मैं हूं और ऐसा मेरा स्वतत्व ही सारभूत है ऐसी प्रतीति व अनुभव करना, यह सम्यग्ज्ञान की रीति है। अन्तर में लगन जागृत होना चाहिये कि सभी सन्त "शुद्धात्मा" "शुद्धात्मा" कहते हैं, तो यह वस्तु अन्तर में क्या है? ऐसी लगनपूर्वक अन्तर में परिचय करके खोज करना चाहिये। ऐसी लगनपूर्वक अंतर शोध करने से आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) अवश्य होगी।

आत्मा को नहीं जानने वाला बहिरात्मा क्या करता है? श्री तारणस्वामी श्रावकाचार ग्रन्थ की गाथा ५० में कहते हैं कि—

बहिरप्पा पुद्गल दृष्ट्वा रचनं आनंद भावना।
पर पंचं येन तिष्ठंते, संसारे स्थिति वर्द्धनं ॥५०॥

चैतन्य के आनन्द को नहीं देखने वाला बहिरात्मा पुद्गलों को देखकर उन में आनन्द की भावना रचता है, इन्द्रिय विषयों में सुख मानता है, जड़ विषयों में मग्नता से उसे जगत का प्रपंच लगा रहता है जिससे संसार की स्थिति बढ़ती है। भेदज्ञान के बिना संसार-परिभ्रमण चलता ही रहता है।

बहिरात्मा पुद्गल में आनन्द की कल्पना रचता है कि इसमें मेरा आनन्द है-ऐसी मिथ्या कल्पना से वह जड़ का स्वामी होता है। किन्तु अरे भाई! जड़ का तो स्वामी जड़ होता है। जिसका जो स्वामी होता है वह उसी की जातिका है, जो पुद्गल तेरा स्व हो और तू पुद्गल का स्वामी हो तो तू पुद्गलमय हो जाये! धर्मात्मा जानता है कि मैं तो चैतन्यमूर्ति ज्ञाता ही हूं

और पुद्गल मेरे से बिल्कुल पृथक् हैं, वह मेरे स्व नहीं, मैं उनका स्वामी नहीं, उनमें मेरा सुख नहीं, उनमें मेरा आनन्द नहीं, मेरा आनन्द तो मेरे पास ही है।

परिग्रह कदी मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे।
मैं तो खरे ज्ञाता हूँ यातैं नहीं परिग्रह मम बने॥
(समयसार २०८)

मोक्षाभिलाषी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि एक ज्ञायक भाव ही मेरा 'स्व' है और उसका ही मैं स्वामी हूँ, इसके अतिरिक्त किसी भी पर द्रव्य का या पर भाव का स्वामी मैं नहीं हूं और न वे मेरे 'स्व' हैं। अज्ञानी ने कल्पना से पर में आनन्द मान रखा है, और पर को अपना माना है, इसलिये वह संसार के-परभाव के अनेकों प्रपंच खड़ा करता है और संसार चक्र में रुकता है। इसलिये परीक्षा पूर्वक स्व-पर की भिन्नता जान, शुद्ध चैतन्य को ही 'स्व' जान कर उसका अनुभव करना ही संसार भ्रमण से छूटने का उपाय है। शुद्ध आत्मतत्व की अनुभूति ही संसार से तारनहार है।

श्री तारण स्वामी कहते हैं कि जिसको चैतन्य का उत्साह नहीं है व पुण्य का जो उत्साह करता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसने मोह रूपी मदिरा पी ली है—

शुद्ध तत्वं न वेदंते, अशुद्धं शुद्ध गीयते।
मद्ये ममता भावेन, मद्य दोषं तथा बुधैः॥११६॥
(तारण तरण श्रावगाचार)

जो जीव शुद्ध आत्म तत्व को न तो जानता है और न अनुभवता है, और रागादि अशुद्ध तत्व को ही शुद्ध समझता है

वह ममताभाव रूप मद्य का पान करता है, इससे बुधजन उसे मदिरापान के दोष युक्त कहते हैं। जो जीव शुभ राग में धर्म मानकर संतुष्ट है व आत्मशुद्धि का उद्यम नहीं करता है, वह परमार्थ से मदिरापान करता है। मोहमदिरा में उन्मत्त वर्तता वह जीव जिनेन्द्र भगवान कथित उपदेश का श्रद्धान नहीं करता, वह सदा रागादि की भावना में वर्तता है, और मिथ्या कल्पना से असत्य को सत्य मानता है। ऐसा मिथ्यात्व का महादोष है। उसमें परमार्थ से सातों व्यसन समाये हुये हैं।

जो शुद्ध तत्व को नहीं जानता व अशुद्ध को (राग को, पुण्य को) शुद्ध कहता है, राग सहित अशुद्ध आत्मा की प्रशंसा करता है, राग को हितकारी मानकर उसके गान गाता है, वह मोह मदिरा का पान करने वाला है, पागल है, ऐसा जीव जिनोक्त शुद्ध तत्व को साधता नहीं है।

जिनोक्तं शुद्ध तत्वार्थं न साधयन्त्य व्रती व्रती।
अज्ञानी मिथ्या ममत्वस्य मद्ये आरूढते सदा ॥११७॥

चाहे अव्रती हो चाहे व्रतधारी हो, किन्तु जो जीव जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए शुद्ध आत्मतत्व को नहीं साधता वह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रूपी मोह मदिरा में लीन है। उसी प्रकार देह-बुद्धि से इस देहादि मांसपिण्ड को अपना मानना सो परमार्थ से मांसाहार दोष है। शुद्ध चैतन्य रूप स्व तत्व को भूल कर जिसकी बुद्धि परतत्व में परिभ्रमण करती है उसकी बुद्धि व्यभिचारिणी है, और वह परमार्थ से वेश्यागमन का दोषी है। इस प्रकार मिथ्यात्व ही सर्व दोषों का मूल है।

यहाँ 'ज्ञान समुच्चय सार' की ६० वीं गाथा में कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ही चौदह पूर्व का सार है—

पूर्वं पूर्व परं जिनोक्त परमं पूर्वं परं शाश्वतं ।
पूर्वं धर्मधुरा धरंति मुनयो, शुद्धं च शुद्धात्मनं ॥
शुद्धं सम्यग्दर्शनं च समयं, प्रोक्तं च पूर्वं जिनं ।
ज्ञानं चरण समं स्वयं च अमलं सम्यक्त बीजं बुधैः ॥६०॥

जिनेन्द्र भगवान के कहे हुये प्राचीन रूप जो चौदह पूर्व है वह उत्कृष्ट अविनाशी है, उसका वाच्य जो शुद्ध आत्मा वह उत्कृष्ट अविनाशी है। इन पूर्व के ज्ञानरूप धर्म की धुरा से मुनिगण निर्मल शुद्धात्मा को धारण करते हैं। १४ पूर्व के सार रूप जो शुद्धात्मा है उसका अनुभव ही निश्चय से शुद्ध-सम्यग्दर्शन है, वही स्वसमय है, वही जिनशासन है,—ऐसा प्राचीन काल से जिन भगवंतों ने कहा है। सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का बीज निर्मल सम्यग्दर्शन है—ऐसा बुधजनों ने कहा है।

जिनवाणी के भेदरूप जो १४ पूर्व हैं वे अनादिकाल से सर्वज्ञ परंपरा से चले आये हैं इसलिये प्राचीन हैं। आत्मस्वरूप को साध कर पूर्णता को प्राप्त करने वाले और उसका उपदेश देनेवाले तीर्थंकर अनादिकाल से सदैव होते ही आ रहे हैं और गणधर उनकी वाणी को झेल कर १२ अंग १४ पूर्व अनादि परंपरा से रचते आये हैं, उसके द्वारा सन्त मुनि व धर्मात्मा लोग धर्म की धुरा रूप शुद्धात्मा को धारण करते हैं। देखो, यह १४ पूर्वका सार दिखाया। शुद्ध आत्मा ही १४ पूर्व का सार है। मुनिवरों ने व

निकाल कर उसका पान किया, समस्त श्रुतज्ञान के समुद्र का मन्थन करके शुद्धात्मारूप अमृत बाहर निकाला, शुद्ध चैतन्यरत्न प्राप्त किया। ऐसे शुद्धात्मा की प्रतीत ही 'समय का सार' है, वही ज्ञान का सार है। १४ पूर्व रूप जो सर्व श्रुतज्ञान, उस 'ज्ञान का समुच्चयसार' क्या है?-शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सर्वज्ञान का सार है।

अहो! शुद्धात्मा की कहानी प्राचीनकाल से चली आ रही है, तीर्थंकर उसे कहते आये हैं, गणधर उसे झेलते आये हैं, व सन्त धर्मात्मा लोग उसका अनुभव करते आये हैं और उपदेश में यही कहते आये हैं। ज्ञानियों, धर्मात्माओं, विचक्षण पुरुषों और मुमुक्षुओं को वह शुद्धात्मा ही जानने योग्य है। जिसने शुद्धात्मा को जाना उसने समस्त जिन शासन को जाना, जिन-शासन के सकल श्रुत का वह पारंगत हुआ।

अब गाथा ३१३ में श्री तारणस्वामी यह बताते हैं कि सामायिक किसको कहते हैं?

सामाइयं च उत्तं, अप्पा परमप्प सम्म संजुत्तं।
समयति अर्थं सुद्धं साम्यं सामाइयं जानं ॥३१३॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मा को परमात्मा के समान जानना उसको सामायिक कहा जाता है, शुद्धात्मा को जो साम्यरूप करे उसी को सामायिक समझो। पहिले तो सम्यग्दर्शन सहित हो, आत्मा को परमात्मा के तुल्य जाने, 'अप्पा परमप्पा समं' ऐसे स्वानुभव से अपने को परमात्मस्वरूप जाने और उसमें एकाग्रता से वीतराग भाव प्रगट करके आत्मा को समतारूप करे, उसको भगवान ने सामायिक कहा है। आत्मा को जाने बिना अकेले

शुभराग से दो घड़ी बैठा रहे, उसको तो भगवान सामायिक नहीं कहते, क्योंकि समताभाव की उसमें प्राप्ति नहीं है।

गाथा ३१४ में कहते हैं कि—

ती अर्थ सुद्ध सुद्धं, मम सामाइयं च सं सुद्धं।
परिनै सुद्ध ति अर्थ, परिनामं सुद्ध समय सुद्धं च ॥३१४॥

जहाँ रत्नत्रय धर्म का निश्चयनय से शुद्ध विचार हो, जहां समताभाव हो वही शुद्ध सामायिक है। जहां शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणमन हो, जहां परिणाम शुद्ध हो वही सच्ची सामायिक है।

समय अर्थात् आत्मा। शुद्धात्मा को जानकर उसका अनुभव करना इसी का नाम सामायिक है। 'निश्चयरत्नत्रय शुद्ध आत्मा के अनुभव रूप ही एक शुद्ध परिणमन है, वही समताभाव है, वही आत्मा की शुद्धता है, वही सच्ची सामायिक है।'

पुण्य–पाप दोनों ही विषम भाव हैं, उन दोनों से परे शुद्धात्मा की दृष्टि से धर्मी को जो समभाव प्रगटा है वही वीतरागी सामायिक है। व्यवहार करते–करते निश्चय सामायिक हो जायगी ऐसा कोई कहे तो यहाँ उसका विरोध करते हैं कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना सामायिक नहीं हो सकती।

गाथा ३१५ में कहते हैं कि—

समरूवं सम दिट्ठं, सम सामाइयं च जिन उत्तं।
मन चवलं सुद्ध थिरं, अप्प सरूवं च सुद्ध सम सुद्धं ॥३१५॥

जहाँ समतामय रूप हो, जहां समतामय दृष्टि हो, जहां समभाव हो, वही जिनोक्त सामायिक है। जहां चंचल मन स्थिर होकर शुद्धोपयोग में लीन हो और जहां शुद्ध समभावरूप आत्म-

स्वरूप अनुभव में आवे वही सामायिक है। समतादृष्टि अर्थात् वीतरागी स्वभाव की दृष्टिपूर्वक वीतरागी स्वरूप के अनुभव में लीनता से जहां शुद्धोपयोग हो-स्थिरता का समभाव हो, उसे जिनोत्तम भगवान ने सामायिक कहा है। (वैसे ही प्रौषध, रात्रिभोजन त्याग, ब्रह्मचर्य आदि का भी अध्यात्मशैली से वर्णन किया है) ब्रह्मचर्य प्रतिमा ब्रह्मस्वरूप है जिसमें कि आत्मा परमात्मा-तुल्य शुद्ध ध्यान में आता है। (देखिये गाथा ३२४)

अब गुरु कैसे हों व उनका उपदेश कैसा हो, यह बात बताते हुये श्री तारणस्वामी 'उपदेश शुद्धसार' ग्रंथ में कहते हैं कि—

गुरु उवएस च उत्तं सूक्ष्म परिणाम कम्म संषिपनं।
गुरुं च विमल सहावं, दर्शन मोहांध समल गुरुवं च ॥१८३॥

(इसके अतिरिक्त आगे पीछे भी अन्य गाथाओं में गुरु का स्वरूप दर्शाया है।)

गुरु महाराज ऐसा उपदेश देते हैं कि जिससे सूक्ष्म अतीन्द्रिय आत्मा की शुद्धोपयोग परिणति का ज्ञान हो जाय, और जिस परिणति में रमण करने से कर्मों का क्षय हो जाय। गुरु की आत्मा विमलस्वभावी है, मिथ्यात्वादि दोषों से रहित है, किन्तु मिथ्यादृष्टि लोग मोह से अन्ध होकर कुगुरु को गुरु मानते हैं। जो राग से धर्म मनावें, बाह्य क्रिया से या निमित्त वगैरह पर के आश्रय से धर्म मनावें, ऐसे जो उपदेश हैं वे कुगुरु के उपदेश हैं, और ऐसे कुगुरुओं की अनुमोदना करने वाला मोहांध जीव दुर्गति में, नरक-निगोद में जाता है, ऐसा गाथा १८८-८९-९० में श्री तारणस्वामी ने कहा है। वस्त्रादि तिलतुषमात्र परिग्रह धारण करके जो अपने को मुनि मानता है वह जीव दर्शनभ्रष्ट

होकर के निगोद में जाता है–ऐसा कथन 'अष्टप्राभृत' में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है, उसी शैली से यहां श्री तारण-स्वामी ने कहा है कि कुगुरु की अनुमोदना करने वाला मिथ्या-दृष्टि जीव नरक-निगोद रूप दुर्गति में पड़ता है ।

यहाँ तो कहते हैं कि गुरु वह है जो गुप्त आध्यात्मिक तत्व का उपदेश देते हैं । गुरु में ज्ञान-दर्शन की मुख्यता है ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही सूक्ष्म परिणाम हैं, अतीन्द्रिय हैं, और वे शुद्धोपयोग परिणति हैं । ऐसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय शुद्धोपयोग परिणाम जिससे प्रगटें ऐसा ही उपदेश गुरु देते हैं । और ऐसे सम्यग्दर्शनादि सूक्ष्म परिणाम से ही कर्म का नाश होता है ।

देखो, यह गुरु का उपदेश! सम्यग्दर्शनादि सूक्ष्म परिणाम हैं व पुण्य-पाप के भाव स्थूल परिणाम हैं । उन स्थूल परिणामों के द्वारा कर्म का नाश नहीं होता । गुरु ऐसा उपदेश नहीं देते कि शुभराग से धर्म हो, गुरु तो ऐसा ही उपदेश देते हैं, जो समझने में अतीन्द्रिय आत्मा की शुद्ध परिणति प्रगटे । समयसार (गा० १५४) में पुण्य-परिणाम को भी अत्यंत स्थूल परिणाम कहा है, उसमें अतीन्द्रिय चैतन्य की शुद्धता नहीं है, और न उसके द्वारा कर्म का क्षय या संवर-निर्जरा भी होता है । सम्यग्दर्शनादि जो सूक्ष्म अतीन्द्रिय शुद्ध परिणति है उसमें रमणता से ही कर्म का क्षय होता है । राग-सन्मुख परिणाम स्थूल है, अशुद्ध है, और शुद्धात्म-सन्मुख परिणाम शुद्ध है, सूक्ष्म है । सन्त गुरु धर्मात्माओं ने ऐसे सूक्ष्म परिणाम का (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का) उपदेश दिया है । निर्मल स्वभाव उनके अनुभव में आया है इससे वे गुरु स्वयं विमल-स्वभावी हैं । जिसने चैतन्य स्वभाव का

अनुभव नहीं किया और रागादि अशुद्ध परिणाम से जिसने धर्म माना वह समल गुरु है, कुगुरु है, और ऐसे कुगुरु को गुरु माननेवाला जीव मोह से अन्धा है।

देखो, भगवान के 'उपदेश का शुद्धसार' क्या है ? कि सूक्ष्म अतीन्द्रिय शुद्ध परिणाम प्रगट करना, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना यही उपदेश का सार है। नियमसार (गाथा २-३) में भी कहा है कि जिनवर शासन में शुद्ध रत्नत्रयरूप परम निरपेक्ष मार्ग का व उसके फलरूप स्वात्मोपलब्धिस्वरूप मोक्ष का कथन किया है। 'नियम' अर्थात् नियम से अवश्य करने योग्य ऐसा रत्नत्रय, यह मोक्षमार्ग है। शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहके उससे विपरीत ऐसे अशुद्ध व्यवहार का मोक्षमार्ग में से परिहार किया है। जो ऐसे शुद्ध रत्नत्रय-मार्ग का उपदेश दे वही गुरु सच्चा, जिनसे कर्म का बंधन हो ऐसे भाव को आदरणीय कहने वाला उपदेश सच्चा नहीं। कर्म जीव को रोके ऐसा न कहे, किन्तु पुरुषार्थ के द्वारा शुद्ध परिणाम से कर्म का नाश होना बतावे, वही सच्चा उपदेश है। मोक्षमार्ग से विपरीत सब भाव जिसके गल गये हैं-नष्ट हो गये हैं ऐसे गुरु शुद्धभाव का उपदेश देते हैं। शुद्धभाव शुद्ध आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होता है, इससे शुद्धात्मस्वभाव के सन्मुख होने का श्रीगुरु का उपदेश है। 'शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञान मैं हूँ' ऐसी सानुभव प्रतीति व ज्ञान की गुरु को मुख्यता है। रागादि से लाभ मानें ऐसा गुरु का (धर्मात्मा का) स्वभाव नहीं। स्वभाव का उत्साह छोड़कर परभाव का उत्साह आवे सो मिथ्यात्व का चिन्ह है। पंच महाव्रतादि के शुभराग हों भले, किन्तु गुरु उसे परभाव समझता है, उसे वह धर्म नहीं मानता। छठवें गुणस्थान में महाव्रत का शुभ विकल्प होता है लेकिन उसके कारण से कहीं शुद्धोपयोग नहीं होता। महाव्रत

के शुभराग के कारण से शुद्धोपयोग हो–ऐसा जो माने उसको गुरु के स्वरूप की पहिचान नहीं है, मुनि के स्वरूप की पहिचान नहीं है, व धर्म क्या है उसका भी उसको ज्ञान नहीं है। राग को जो धर्म माने उसका राग की ओर का उत्साह छूटता नहीं और वह स्वभाव की ओर झुकता नहीं है।

गुरु तो आत्मानुभव के मार्ग पर चलने वाले हैं और उसी का उपदेश देने वाले हैं। सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक से वे सारे लोक का स्वरूप प्रकाशित करते हैं। चारित्रवन्त गुरु वस्त्रादि के परिग्रह से रहित हैं और भीतर चैतन्य के ऊपर राग का भी आच्छादन नहीं, रागरूप वस्त्र छोड़कर उन्होंने शुद्धात्मा को व्यक्त-स्पष्ट किया है।

गुरुं सहाव सउत्तं, रागं दोसंपि गारवं त्यक्तम् ।
ज्ञानमई उवएसं, दंसनं मोहंध राय मय गुरुवम् ॥१८६॥

गुरुं च दर्सन मइओ, गुरुं च ज्ञान चरन संयुत्तो ।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, दर्सन मोहंध सल्य गुरुवं च ॥१८७॥

दर्सन मोह अदर्सं, गुरु अगुरं च ज्ञान विज्ञानम् ।
गुरं च गुनं नहिं पिच्छं, अगुरुं अनुमोय दुग्गए पत्तम् ॥१८८॥

गुरुं च लष्य अलष्यं, अगुरं संसार सरनि उत्तं च ।
गुन दोसं नवि जानइ, दर्सन मोहंध नरय वीयम्मि ॥१८९॥

गुरुं च षिपनिक रूवं, अगुरं अभाव समल उत्तं च ।
तस्य गुन अनुमोयं, दर्सन मोहंध निगोय वासम्मि ॥१९०॥

(उपदेश शुद्धसार)

१८६ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि–गुरु ज्ञानमय उपदेश देते हैं, 'आत्मा ज्ञानस्वभावी है' ऐसा बताकर उसकी ओर झुकने का उपदेश देते हैं, रागमय उपदेश नहीं देते, रागसे लाभ नहीं मनाते। ज्ञानस्वभावी आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र तीनों ज्ञानमय हैं, रागमय नहीं। ऐसे राग रहित श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का जो उपदेश है वही ज्ञानमय उपदेश है और ऐसा उपदेश गुरु देते हैं। जो सरागी हों अर्थात् राग से धर्म मनाते हों, ऐसे कुगुरु को गुरु मान करके आदर देने वाला जीव मोहान्ध है।

और भी कहते हैं कि गुरु वही है जो सम्यग्दर्शन का धारी है, गुरु वही है जो सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सहित है, जिसमें कोई मिथ्यात्व की शल्य नहीं है। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व–शल्यधारी को गुरु मान लेता है। 'अगुरं अनुमोय दुग्गये पत्तम्' कुगुरु की अनुमोदना से दुर्गति होती है....वह मोहांध जीव नरक–निगोद में जाता है (देखो गाथा १८७ से १९०)

इस प्रकार गुरु का स्वरूप दिखाया, और वे कैसा उपदेश करते हैं यह दिखाया। अब शास्त्र की बात दिखाते हैं।

उपदेश शुद्धसार से:—

श्रुतं च श्रुत उववन्नं श्रुतं च ज्ञान दंसण समग्गम्।
श्रुतं च मग्ग उवएसं, दर्शन मोहंध कुश्रुतं अनुमोयम्॥१९१॥

भगवान की द्वादशांग वाणी से उत्पन्न शास्त्र में ज्ञान–दर्शन सहित मोक्षमार्ग का उपदेश है। भगवान की वाणी से उत्पन्न हुए शास्त्र में परम निरपेक्ष वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश है। भगवान ने मोक्षमार्गरूप से निश्चय रत्नत्रय को ही दिखाया है, उसकी जगह राग से मोक्षमार्ग होने की बात जो कहे वह शास्त्र

भगवान के उपदेश का नहीं है किन्तु मिथ्यादृष्टि के द्वारा रचा हुआ वह कुशास्त्र है। मोहांध जीव ऐसे कुशास्त्र का अनुमोदन करता है। कैसे हैं ये कुशास्त्र, कि संसार-मार्ग की पुष्टि करने वाले हैं। और भगवान के कहे हुये शास्त्र तो मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं। राग से धर्म मनाकर राग की पुष्टि करावे सो तो विकथा है। अज्ञानी ऐसी विकथा को शास्त्र मानते हैं, किंतु वह शास्त्र नहीं, कुशास्त्र हैं।

आगे, ज्ञानसमुच्चयसार में जो शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप दिखाया है उसमें गाथा ६१ में कहते हैं कि—

त्रिश्व पूर्वं च शुद्धं च, शुद्ध तत्वं समं ध्रुवं।
शुद्धं ज्ञानं च चरणं च, लोकालोकं च लोकितं ॥६१॥

साम्यभावरूप शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति यही १४ पूर्वों का सार है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धात्मतत्व, यही पूर्व अङ्गरूप सर्व श्रुतज्ञान का सार है। निर्दोष १४ पूर्व लोकालोक के स्वरूप का प्रकाशक है, उसमें साररूप शुद्ध आत्मा है।

पंचास्तिकाय में कहा है कि वीतरागता ही शास्त्र का तात्पर्य है। भगवान परमेश्वर सर्वज्ञ परमात्मा के कहे हुये जो सर्व शास्त्र उसका तात्पर्य परमार्थ से वीतरागता ही है, वीतरागता ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

स्वभाव के सन्मुख होना व परभाव से पराङ्मुख होना, यही सर्व शास्त्रों का व भगवान की वाणी का तात्पर्य है। भगवान के कहे हुये चारों अनुयोगों में ऐसे वीतरागी तात्पर्य का ही उपदेश है। राग के द्वारा कभी भी वीतरागता नहीं होती। राग का जो पोषण करे वह उपदेश भगवान का नहीं।

श्री तारणस्वामी ने अपने शास्त्रों में स्थान स्थान पर अध्यात्म-शैली से देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप दिखाकर उनका आदर व बहुमान किया है, उसी में सब व्यवहार आ जाता है, किन्तु मुख्य (मूलभूत) उपदेश शुद्ध आत्मा की सन्मुखता का है। १४ पूर्व का सार वीतरागता है। वीतरागता कहो या निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, ये तीनों ही वीतराग हैं। उनकी आराधना का ही उपदेश वीतराग मार्ग में दिया है। १४ पूर्व में अन्तिम पूर्व का नाम 'लोक बिन्दुसार' है। १४ पूर्व में लोकालोक सबका स्वरूप दिखाया, किन्तु उसमें सारभूत तो एक शुद्धात्मतत्व ही कहा है। सारभूत उस शुद्धात्मतत्व के ज्ञान के बिना सब निःसार व निष्फल है।

सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य क्रिया में जल गालन आदि में धर्म मानकर अज्ञानी रुक जाता है। श्री तारणस्वामी ज्ञान-समुच्चयसार की गाथा २९० में कहते हैं कि—

जल गालन उवएसं, प्रथमं सम्मत्त सुद्ध भावस्स।
चित्तं सुद्ध गलंतं, पच्छिदो जलं च गालम्मि ॥२९०॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

श्रावक को पानी छानकर पीने का उपदेश है, परन्तु पहिले यह आवश्यक है कि उसके भावों में शुद्ध सम्यग्दर्शन हो, अपने चित्त को दोषों से हटाकर साफ करे, अर्थात् अपने चित्त को गालकर परभावों से पृथक् करे। ऐसी चित्तशुद्धि के साथ पानी छानकर पीवे। भेदज्ञानरूपी छन्ने से छानकर विभावों से पृथक् करके शुद्ध शांत चैतन्य-जल का पान करे। सम्यक्त्वरूप शुद्ध भाव से चित्त को गालना-शुद्ध करना यही परमार्थ जल-गालन है। जिसने शुद्ध सम्यक्त्व से छानकर विभावों को शुद्धात्मा में

से निकाल दिया है और शुद्ध चैतन्य-रस को जो वेदते हैं उसी को परमार्थ जल-गालन है। बाहर के जल-गालन आदि क्रिया-काण्ड में ही धर्म समझकर रुक जाय, और भीतर में अपने चैतन्यजल को भेदज्ञानरूपी छन्ने से छानकर परभाव से पृथक् न करे तो उसे धर्म का लाभ नहीं होता। वह बाहर में जड़ की क्रिया का अभिमान करता है परन्तु अन्दर में तो मिथ्यात्वरूप मल से अनछने जल को ही वह पीता है।

जिसने अपने चित्त में स्वभाव व राग दोनों को भेदज्ञान रूपी छन्ने से छानकर अलग-अलग नहीं किया उसने परमार्थ से जल-गालन नहीं किया, क्योंकि—

मन शुद्धं चित्त गलनं, भाव शुद्धं च चेयना भावं।
चेयन सहित सुभावं, जल गालन तंपि जानेहि ॥२९१॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

मनको शुद्ध रखना चित्त का जल-गालन है। शुद्ध भाव में रहकर चेतना का अनुभव करना, चेतना सहित सम्यक्भाव में परिणमना, उसे परमार्थ जल-गालन समझो। स्व-सन्मुख होकर जिसने चैतन्य जल को शुद्ध किया और मिथ्यात्वादि मैल को दूर किया उसने सच्ची शुद्धि की। ऐसी भावशुद्धि के बिना सब ही क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। राग को चैतन्य में मिलाकर एकमेक रूप से जो अनुभवता है वह अनछना ही जल पीता है, ज्ञान-जल को उसने छाना नहीं, ज्ञान-जल को वह मलिन ही अनुभवता है।

समयसार गाथा ११ में भी जल का दृष्टांत देते हुए कहा है- जैसे, प्रबल कादव के [मिलने] से जिसका निर्मलभाव आच्छादित हो रहा है ऐसे जल को, जल और कादव का विवेक (पृथक्करण)

नहीं करने वाले बहुत जन तो मलिन ही अनुभवते हैं, किंतु विवेकी जन तो अपने हाथ से कतकफल (निर्मली औषधि) डालकर, कादव रहित शुद्ध जल का अनुभव करते हैं, वैसे आत्मा का शुद्ध स्वभाव परभावरूप कादव से ढँक रहा है, जिसको भेदज्ञानरूपी विवेक नहीं है और जिसका चित्त व्यवहार में ही विमोहित है ऐसा अज्ञानी जन तो आत्मा को अशुद्ध अनुभवता है, परन्तु भूतार्थदर्शी सम्यग्दृष्टि–ज्ञानी तो अपनी बुद्धि से, अपने पुरुषार्थ से शुद्ध नय अनुसार बोध करके, आत्मा को शुद्ध ज्ञायक भावरूप अनुभवता है। यह शुद्धनय अन्तर में स्वभाव और विभाव को छानने का छन्ना है। यदि सम्यग्दर्शनादि भावशुद्धि के सहित हो तब तो जल-गालन आदि के शुभ भाव को व्यवहार कहने में आ सकता है, परन्तु भावशुद्धि न करे तो निश्चय के बिना उसके क्रियाकाण्ड को व्यवहार भी नहीं कहते, और वह करते करते कभी धर्म हो जायगा, ऐसा नहीं है।

वैसे ही जल-गालन की तरह रात्रिभोजन-त्याग के बारे में भी कहते हैं कि—

अनस्तमित उवएसं, पढमं सम्मत्त चरन संजुत्तं।
जस्य न अस्तं दिट्ठं, तस्य न मिथ्यादि भावमप्पानं ॥२९२॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

श्रावक को रात्रिभोजन-त्याग का उपदेश है। जिसमें सम्यक्त्व सूर्य अस्त हो गया है व अज्ञानरूपी रात्रि छा गई है, ऐसा जो मिथ्यात्वादि परभावों का भोजन वही परमार्थ से रात्रि-भोजन है। ऐसे रात्रि-भोजन के महापाप के त्याग के अर्थ प्रथम तो श्रावक को सम्यग्दर्शन व अपने योग्य आचरणशुद्धि होना चाहिये।

जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य झलक रहा है उसे पर-भावरूप रात्रि-भोजन का त्याग है। और सम्यक्त्व-सूर्य जिसका अस्त हो गया है उसकी आत्मा में सदैव रात्रि ही है, इसलिये उसे तो सदैव रात्रि-भोजन ही है। इस प्रकार सच्ची रात्रि-भोजन-त्याग पडिमा सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है। सम्यक्त्व की शुद्धि के पश्चात् ही सब प्रकार की शुद्धि होती है।

गाथा २९३ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

अप्पानं अप्पानं सुद्धप्पा भाव अमल परमप्पा ।
एवं जिनेहि भनियं, अनस्तमितं तं पि जानेहि ॥२९३॥

—ज्ञानसमुच्चयसार

जो अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, और परमात्मस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान अनुभव सहित है, ऐसे निर्मल भाव वाले जीव को रात्रि-भोजन का त्यागी जानो, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। व्यवहार में जो रात्रि-भोजन नहीं करता, और निश्चय से जिसकी आत्मा में अन्धकार नहीं, मिथ्यात्वरूपी रात्रि नहीं, जो ज्ञानसूर्य के प्रकाश में सदैव आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करते हैं, उसे रात्रि-भोजन का त्याग है। धर्मात्मा निरन्तर सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य के जगमगाते प्रकाश में चैतन्य के ध्यानरूप निर्दोष अहार करता है, उसे इन्द्रिय-रस का व रात्रि-भोजन का त्याग राग है। राग के रस में जो लीन है उसकी आत्मा में तो अज्ञानरूपी रात्रि ही है और वह सदैव रात्रि-भोजन ही करता है। परमात्मपना मेरी शक्ति के गर्भ में है, उसमें अंतर-एकाग्रता के द्वारा मेरे में से ही परमात्मपद व्यक्त होगा, ऐसी

प्रतीतिपूर्वक परभाव का त्याग होने पर, रात्रि-भोजनादि की वृत्ति छूट जाय उसका नाम रात्रिभोजन-त्याग है। भावशुद्धि रहित अकेली बाह्य क्रिया को भगवान ने व्यवहार नहीं कहा, भगवान ने तो मोक्षमार्ग में निश्चय सहित व्यवहार कहा है। निश्चय-भावशुद्धि के बिना (सम्यग्दर्शनादि के बिना) जीव चाहे जितना क्रियाकाण्ड या व्यवहार करे तो भी उसमें किंचित्‌मात्र मोक्ष-मार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन जिसमें प्रधान है, मुख्य है, आगे है ऐसा मोक्षमार्ग भगवान ने कहा है। यह जानकर मोक्षार्थी को सतत् प्रयत्न के द्वारा प्रथम सम्यग्दर्शन करना चाहिये।



[६]

छठवां प्रवचन

[वीर सं० २४८८ आश्विन शुक्ल २]

मोक्ष का साधक कहता है कि हे भगवान् !

卐 आप मेरे साथ चलो ! 卐

*
**

मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप आदि कोई धर्म-क्रिया यथार्थ नहीं होती। अज्ञानी को बिना सम्यग्दर्शन के व्रत-तप आदि सब क्रियायें कष्ट ही हैं। यह बात श्री तारणस्वामी 'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' की ८८ वीं गाथा में कहते हैं—

ज्ञानहीनं कृतं येन व्रत तप क्रिया अनेकधा।
कष्टं निरो सहसे सोपि, मिथ्या विषय रञ्जितं ॥८८॥

आत्मज्ञानमय श्रुतज्ञान के बिना जो अनेक तरह के व्रत-तप की क्रियायें करता है वह केवल कष्ट को ही भोगता है, उसका परिणाम मिथ्या इन्द्रिय-विषयों में रंजायमान है, शुद्धात्मा में उसका परिणाम लगा नहीं है।

जिसको आत्मज्ञान न होगा उसको अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव न होगा। तब उसका सर्व चारित्र पालना, तप करना मोक्ष के लिये साधनभूत न होगा किन्तु मात्र कष्ट सहना होगा। सम्यग्दृष्टि तो आत्मा के आनंद में मग्न रहने की चेष्टा करता है।

जिसको सम्यग्दर्शन नहीं, जिसको आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की खबर नहीं, वह व्रतादि शुभराग की क्रिया करता हुआ भी मात्र कष्ट को ही सहता है, आकुलता को ही वेदता है, चैतन्य की शान्ति का वेदन उसको नहीं है। देखो ! यह बात पांच सौ वर्ष पहिले श्री तारणस्वामी ने कही है। सम्यग्दर्शन मूलभूत चीज है उसमें सम्पूर्ण आत्मा स्वीकार है, परन्तु लोगों को उसकी महिमा की खबर ही नहीं है और वे बाहर के क्रिया-काण्ड में फँसे हुये हैं। यहाँ कहते हैं कि भाई ! तू सम्यग्दर्शन के बिना अकेले कष्ट को ही भोग रहा है। जहां आत्मा का ज्ञान नहीं, जहां भावश्रुत सम्यग्ज्ञान नहीं, वहां मन्द कषाय से चाहे जितना सहन करे तो भी ये सब सिर्फ कष्ट ही कष्ट हैं, वह मात्र राग में रंजायमान है। ज्ञान के बिना धर्म की क्रिया कैसी ?

किसी ने बाहर में वस्त्र छोड़ा किन्तु अंतर में यदि अशुद्धता नहीं छोड़ी तो उसका वस्त्र का भी त्याग सच्चा नहीं। अंडज वस्त्र कहने से हृदयरूपी कोष में भरे हुये जो अशुद्धभाव उनमें जिसको रसिकपन है वह वास्तव में अचेल नहीं किन्तु सचेल ही है।

बाहर में तो चर्मज रोमज आदि सर्व प्रकार के वस्त्रों का जिसे परित्याग हो व अन्तर में मिथ्यात्व आदि अशुद्ध भावों का त्याग हो वहीं मुनि दशा होती है।

गाथा ३८३-३८४-३८५ में श्री तारणस्वामी ज्ञानसमुच्चय-सार में कहते हैं कि—

गुन रूव मेय विज्ञानं, ज्ञान सहावेन संजुत्त धुव निश्चं।
मूलगुनं सं सुद्धं, उत्तर गुन धरइ निम्मलं विमलं ॥३८३॥
उत्तर ऊर्ध सहावं, ऊर्ध सहाव विमल निम्मलं सहसा।
सुद्ध सहावं त्रिच्छदि, उत्तरगुन धरंति सुद्ध स सहावं ॥३८४॥
मूल उत्तर संसुद्धं, सुद्धं सम्मत्त सुद्ध तव यरनं।
तिक्कं चेल सहावं, सुद्धं सम्मत्त धरन संसुद्धं ॥३८५॥

ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव जिस उपयोग से हो उसको धारण करना वह निश्चय से मूलगुण है, और पीछे उसी शुद्ध आत्मा के विशेष ध्यान से रागादि दोषों का नाश करके अति निर्मलता को धारण करना और उसको उत्तरोत्तर बढ़ाना यही उत्तर गुण है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। पहिले सम्यग्दर्शन प्रगट करना यही धर्मात्मा का मूलगुण है। और ऐसे मूलगुण के साथ आगे बढ़कर श्रेष्ठ आत्मस्वभाव को प्राप्त करना, केवलज्ञान प्रगट करना यह उत्तर गुण है। मूलगुण के बिना उत्तर गुण नहीं होते। जहां सम्यग्दर्शन रूपी मूलगुण नहीं होते वहां चारित्र गुण नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा व अनात्मा का भेदज्ञान करके द्रव्यदृष्टि से आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव में लाना

और शुद्ध परिणति प्रगट करना, यही मोक्षरूपी महाफल का देने वाला जो आत्मधर्मरूपी वृक्ष उसका मूल है।

उसका ही यथाथ साधुपना है कि जो निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, जिसका मूलगुण व उत्तरगुण (अर्थात् दर्शन व चारित्र) शुद्ध है, शुद्धात्म-रमणतारूप आत्मतपन (आत्मशुद्धि की उग्रता, चैतन्य का प्रतपन) ही जिसका तप है और परभाव-रूप वस्त्र-परिधान के त्यागरूप जिसका स्वभाव है।

समताभावरूप परिणमन ही मोक्ष का साधन है। देखो ! अपना साधन अपने में ही है। आत्मा के बंध का व मोक्ष का साधन आत्मा में ही है, बाहर में करण या साधन नहीं है। आत्मा को अपना शुद्ध या अशुद्ध भाव ही अपने मोक्ष का या बंध का साधन है। भगवान की वाणी में ऐसा ही कारण दिखाया है कि अंतरंग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप जो समभाव है यही साधन है।

'ममल पाहुड़' भाग २ (पृष्ठ ३८५ से ३९६) में कहते हैं कि जो अनन्त गुण के धारी हैं, जो कर्मविजयी हैं और जिसका पद विजयरूप है ऐसे जिनपद की जय हो....जय हो ! जिस पद के धारक जिनेन्द्रदेव ने कर्मों को सदैव के लिये जीत लिया है, और जिस जिनपद से अब कभी भी पतन होने का नहीं ऐसा यह जिन-पद जयवन्त रहो। भव्य-जीवों को ही जो प्रगट होता है ऐसा अनन्त अविनाशी शुद्ध पद जयवन्त रहे।

ऐसा जयवन्त जिनपद कैसे प्रगटे ? क्या है उसका साधन ? तो कहते हैं कि, शुद्धात्मा के अनुभवरूप साधन से वह जिनपद प्रगटता है। जब अन्तर में स्वानुभव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रकाश करे तब ऐसा जिनपद प्रगटे। शुद्धोपयोग के प्रताप से

जिनपद प्रगटता है। इस प्रकार स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग ही जिन-पद का साधन है, वही कारण है।

ज्ञानसूर्य का प्रकाश होने पर आत्मा समता-रस में मग्न होता है। ज्ञानसूर्य का उदय समभावरूप है, उसमें रागद्वेष नहीं। ऐसे समभावी ज्ञानसूर्य का अभ्यास ही मोक्ष का साधन है। रत्नत्रय गर्भित स्वानुभव ही अर्हंत पद का साधक है। आत्मारूपी कमल का अनुभव ही स्व-चारित्र है और वही जिनपद का साधन है। आत्मा का साधन आत्मारूप ही होता है। ऐसे साधन के अभ्यास से आत्मा स्वयं जिन हो जाता है, अन्य कोई रागादिभाव साधन नहीं है। एक ही प्रकार का साधन है। भयरहित ज्ञान-दर्शन-स्वभाव का अनुभव यही एक साधन है। शुद्धात्मा में रमणता से साम्यभाव होता है, यही मोक्ष का साधन है। श्री तारणस्वामी कहते हैं कि अहो! ऐसे स्वभाव साधन से अनन्त ज्ञान दर्शन आनन्द सहित जो चैतन्य कमल खिला उसकी जय हो!

देखिये....यह साधन! यही मोक्ष का सुन्दर साधन है, यही उत्तम करण है, यही भगवान के उपदेश का अर्क है—सार है। कितनी स्पष्ट बात कही है! इसमें शुभराग को या बाहर की क्रिया को साधन मानने की बात ही कहाँ?

हितकारी करना उसका नाम 'करण'। क्या राग या व्यव-हार का आश्रय हितकारी है?—नहीं; तो राग या व्यवहार करण नहीं है। शुद्धात्मा का अनुभव ही हितकारी है, वही मोक्ष का सहकारी है, वह आनन्दमय है, वह शुद्ध है, वही सच्चा करण, सच्चा कर्तव्य व सच्चा साधन है। यहां प्रमोद से कहते हैं कि ऐसा आत्मा व ऐसा साधन जयरूप हो....विजय-रूप हो....।

शुद्धात्मा का स्वानुभव ही भगवान की दिव्य-वाणी का सार

है, इसलिये कहा है कि जहाँ स्वानुभव किया वहां आत्मा में दिव्य-वाणी का प्रकाश हुआ, और चैतन्य का अनहद्नाद प्रगटा। आत्म-कमल में लीन होना यही मोक्ष का सुंदर साधन है, ऐसे आत्मिक साधन से परम हित का उदय होता है। ऐसा अनुभव ही योग्य वस्तु का अनुभव है। राग का अनुभव तो मोक्ष के लिये अयोग्य है। आत्मा का शुद्ध परिणमन ही मोक्ष का साधन है, दूसरा कोई साधन कहना, यह तो मात्र उपचार है, वास्तविक नहीं।

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। यह बात श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार की ११ वीं गाथा में कही है, उसमें यह सब स्पष्ट होता है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्ध णयो।
भूयत्थ मस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

अहो! हजारों शास्त्रों के मूल इस एक गाथा में भरे हैं। आचार्यदेव ने इस गाथा में सारे शासन का मूल रहस्य भर दिया है।

यहाँ श्री तारणस्वामी कहते हैं कि अहो, अतुल-बलधारी इस आत्मा की जय हो....कि जिसके अनुभव की सहायता से आत्म-कमल प्रफुल्लित होता है-केवलज्ञान खिल जाता है। जैसे प्रवचन-सार गाथा ९२ में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रमोद से जयकार किया है कि-"जयवंत वर्तो स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म," जयवंत वर्तो, यह आत्मतत्व की उपलब्धि, और जयवंत वर्तो, यह परम वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोग कि जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ, वैसे ही यहां श्री तारणस्वामी ने प्रमोद से

जयकार किया है कि–अतुल बलधारी आत्मा की जय हो कि जिसके अनुभव की सहायता से आत्मकमल प्रफुल्लित होता है।

शुद्धोपयोग हितकारी है और वही मोक्ष का साधक है। मोक्ष में जाते हुये सहकारी कौन ? साथीदार कौन ? कि शुद्धात्मा की वीतराग परिणति ही मोक्ष में जाने वाले मुमुक्षु की सहकारी व साथीदार है। राग साथीदार नहीं, वह तो विरोधी है।

शुद्धभावधारी ज्ञानसूर्य के प्रकाश से ही आत्मकमल का विकास होता है। आत्मज्ञान की सहायता से ही हंस के समान निर्मल जिनपद प्रगट होता है। शुद्ध–ज्ञान ही जिनपद का साधन है, राग या बाह्यक्रिया साधन नहीं है।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान महा–हितकारी हैं, उनके द्वारा साम्यभाव होकर कर्म खिर जाते हैं, और कर्मशून्य निर्विकल्प दशा प्रगट होती है। ज्ञान के अभ्यास से सिद्धपद प्रगटता है। राग का अभ्यास नहीं किन्तु ज्ञान का ही अभ्यास मोक्ष का साधन है। समयसार (कलश १४३) में भी कहते हैं कि 'कल- यितुं यततां सततं जगत्' अर्थात् यह ज्ञानस्वरूप पद कर्म से अप्राप्य है, और सहज ज्ञान की कला से सुलभ है, इसलिये निज- ज्ञान की कला के बल से इस पद को अभ्यास करने का जगत सतत् प्रयत्न करे।

इस प्रकार उनतीस गाथाओं के द्वारा श्री तारणस्वामी ने निश्चयरत्नत्रय की एकतारूप शुद्धोपयोग का मनन किया है। शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है, यह भाव सम्यग्दृष्टि को प्रगटता है और उसके अभ्यास से भावों की उत्पत्ति होती जाती है, अनु- क्रम से मुनि दशा प्रगट करके, क्षपकश्रेणी चढ़कर, घातीय कर्मों

का क्षय कर अरिहन्त हो जाता है, और बाद में सर्व कर्मों का क्षय करके सिद्ध हो जाता है ।

इसलिये मुमुक्षु जीवों को उचित है कि सर्व चिन्ताओं को छोड़कर एक शुद्धात्मा का ही अनुभव करें ।

× × ×

जो जीव पुण्य से शुभराग से आत्म-प्राप्ति होने की बात मानता है उसको पुण्य का लोभ है, और वही अनन्तानुबंधी लोभ है । 'ज्ञानसमुच्चयसार' गाथा १२४ में कहते हैं—

लोभं पुण्यार्थं जेन, परिणामं तिष्टते सदा ।
अनंतान लोभ सद्भावं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं ॥१२४॥

जिसके अन्तर में सदैव पुण्य की प्राप्ति का लोभ-भाव रहता है उसके अनन्तानुबंधी लोभ प्रगट है । सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा शुद्धात्मा की दृष्टि से पुण्य के लोभ को भी छोड़ देते हैं । समकिती को पुण्यभाव हो भले, किन्तु उसको रुचि नहीं, भावना नहीं, भावना तो शुद्ध आत्मा की ही है ।

'ममलपाहुड' में श्री तारणस्वामी ने ११ श्लोक की एक 'उमाहो फूलना' बनाई है, उसमें एक सम्यग्दृष्टि सिद्धगति पाने की व मोक्ष में जाने की भावना करता है, और साथ में श्री अरिहन्त भगवान की भक्ति भी करता है, वह ऐसी भावना भाता है कि हे भगवान ! जब तक मैं मोक्षपुरी में न पहुँचूँ तब तक आप मेरे साथ ही साथ चलो । मोक्ष की ओर चलते-चलते श्रावक ने अपनी आत्मा में सिद्ध भगवान को स्थापित किया है, इससे सिद्ध भगवान उसके साथ ही साथ हैं । हे भगवान ! मोक्ष होने तक आप मेरे साथ ही रहो अर्थात् आपके उपदेश का अवलंबन

व आपके स्वरूप का चिंतन बना रहे, जिससे बीच में भंग हुये बिना ही मैं अपनी उन्नति करता हुआ मोक्षपुरी में चला जाऊँ बीच में कहीं भी पीछे न हटूँ। वह साधक सिद्धपुरी को ही अपना देश कहता है, सिद्धपर्याय को ही अपना भेष समझता है, सिद्धि–सुख को अपनी शय्या समझता है। इस प्रकार तारण-स्वामी ने इस फूलना के द्वारा प्रेरणा की है कि रे जीव! तू निश्चित होकर सिद्ध जैसे तेरे शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास कर, इसी स्वानुभवरूप जहाज पर चढकर तू मोक्षद्वीप में पहुँचेगा।

—फूलना—

चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी अपनेउ देसा,
उव उवनो हो विंद कमल रस मिलन सहेसा।
चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी अपनेउ भेषा,
तुम लखहुन हो इष्ट उवन पौ उवन उवएसा।
चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी मिलन सहेसा,
तं मिलिहो हो मिलन विली जिन नाथ उवएसा।
चलि चलहुँन हो जिनवर स्वामी अपनेउ सेजां,
सिंहासन हो सूषम सहियो जै जै जिनेसा।
चलि चलहुँन हो जिनवर स्वामी अपनेउ साथा,
सह कारह हो स्थान सुयं सुइ मिलन सहेसा।
तं तारन हो तरन सहावे तरन उवएसा,
तं दिप्ति हि दिष्टि सब्द पिउ मुक्ति सहेसा।

(ममलपाहुड़ भाग २ पृ० १५५–१५६)

इसमें मोक्ष का साधक भव्यजीव श्री अरहन्त भक्ति में मग्न होकर कहता है कि हे जिनेन्द्र! क्या आप हमारे साथ अपने मोक्षरूपी देश में न चलोगे ? मुक्ति के मिलने के लिये मेरे हृदय में आत्मकमल के रस का अनुभव प्रगट हुआ है। मुझे श्री जिनेन्द्र भगवान का ऐसा उपदेश मिला है कि मैं चैतन्य सूर्य का अनुभव करूँ और वीतरागभाव को प्रगट करूँ। उस हितकारी सहायक भाव से यह जीव मुक्तिपुरी में प्रवेश करता है।

साधक कहता है, 'चलि चलहु'....हे भगवान् ! चलो........ चलो! मैं सिद्धपद का साधन करके मोक्ष में आ रहा हूँ, तो हे भगवन् ! अपने मोक्ष देश में आप भी क्या मेरे साथ नहीं चलोगे ? 'चलि...चलहु, चलो आओ, चलो मेरे साथ चलो! हे भगवान ! निज-स्वरूप के स्वदेश में आप मेरे साथ चलो!

देखो तो सही, कितनी सुन्दर भावपूर्ण रचना की है।

जैसे प्रवचनसार के मंगलाचरण में आचार्यदेव में मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर के समान जो दीक्षा का उत्सव, उसमें सभी परमेष्ठी भगवन्तों को बुलाकर अपने अन्तर में पधराये हैं, अपने ज्ञान में पंचपरमेष्ठी को साक्षात् उपस्थित रखकर चारित्रदशा को साधते हैं, मोक्षदशा का स्वयंवर करते हैं। वैसे यहां श्री तारणस्वामी ने भी उसी शैली से फूलना की रचना की है। ओ भगवान ! चलो.. ...मेरे साथ में चलो, मोक्षपुरी की ओर जाते हुये मेरे साथ ही आप रहो। अहो! जहां पंचपरमेष्ठी का साथ मिला वहाँ मोक्षदशा में विघ्न नहीं हो सकता। प्रभो, चैतन्य का मोक्षदशा के साथ ब्याह हो रहा है उसके मण्डप में आपको बुलाया है। जैसे ब्याह (लग्न) प्रसङ्ग पर बड़े-बड़े लोगों को साथ में रखते हैं-इस हेतु से कि कहीं कन्या पक्ष की ओर से

कोई गड़बड़ी न हो जाय, वैसे यहां साधक जीव चैतन्य की लग्न में श्रेष्ठ ऐसे अनन्त तीर्थंकर सिद्ध भगवन्तों को अपने साथ में-पास में हृदय में रखकर मोक्ष के साधने को चला है, अब उसकी मोक्षदशा रुकने वाली नहीं, वह पीछे हटने वाला नहीं, अप्रतिहतभाव से मोक्षदशा लेकर के रहेगा।

हे भगवान! क्या आप मेरे साथ निजभेष में नहीं चलोगे? हमारा निजभेष तो सिद्ध महाराज के समान है (-'सिद्ध समान सदा पद मेरो') हे भगवान! आप मेरे साथ मिलकर मुक्तिपुरी में चलो........जब तक मोक्ष के पास न पहुँचूँ तब तक मैं आपका साथ—आपकी भक्ति व आपके स्वरूप का ध्यान छोड़ने वाला नहीं। साधक कहता है—मेरी शय्या सिद्ध पर्याय है, उसी में आत्मा अनन्तकाल तक परम आनन्द सहित विश्राम करता है, वहाँ पर आत्मा के शुद्ध अतीन्द्रिय सूक्ष्म प्रदेशों का सिंहासन है, विजय का आसन है, हे जिनेन्द्र भगवान! ऐसी सिद्धशय्या में क्या आप मेरे साथ नहीं चलोगे? हे भगवान! मुक्तिपुरी में जाने को आप मेरे सहकारी हो। प्रभो! मैं सिद्ध भगवान के पास जा रहा हूँ, मेरे साथ आप भी सिद्धपुरी में चलिये। प्रभो! मोक्षपंथ में आप मेरे सार्थवाह हो....मोक्ष में जाने को आप मेरे साथीदार हो...आप मेरे साथ ही रहो, हमें आपका ही साथ है, अन्य किसी का नहीं, राग का भी साथ नहीं। समयसार में 'वंदित्तु सव्व सिद्धे' कहकर आत्मा में सिद्ध भगवन्तों को लाकर के साधक दशा का प्रारम्भ किया है, इस प्रकार अपूर्व मांगलिक किया है। उसी के अनुसार श्री तारणस्वामी ने भी यहाँ वैसी ही शैली अपनाई है।

वे सिद्ध भगवन्त "तारण-तरण" स्वरूप हैं, जो उनका ध्यान करते हैं वे भव-समुद्र से तिर जाते हैं, और वे स्वयं भी भव-समुद्र

से तिर गये हैं इसलिये वे 'तारण-तरण' हैं। और वे अपने शुद्ध स्वभाव के द्वारा जीवों को भवसागर से तिरने को सूचित कर रहे हैं, ऐसे शुद्धात्मा में दृष्टि करना यही भवसमुद्र से तिरने का जहाज है, उसके द्वारा भव्यजीव मुक्तिपुरी में प्रवेश करते हैं।

'ज्ञानसमुच्चयसार' गाथा ६२ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि-

लोकितं शुद्ध तत्वं च, शुद्ध ध्यान समागमं ।
विश्वलोकं ति अर्थं च, आत्मनं परमात्मनं ॥६२॥

१४ पूर्व में शुद्ध-तत्व दिखाया है, शुद्धध्यान की प्राप्ति का उपाय दिखाया है, व सर्वलोक का स्वरूप, रत्नत्रय धर्म का स्वरूप और आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप दिखाया है। १४ पूर्व में कौन-सी बात आई ?-अर्थात् १४ पूर्व का परमार्थ क्या है ? १४ पूर्व में शुद्धात्मतत्व दिखाया है, शुद्धात्मा ही १४ पूर्व का सार है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्ध मोक्षमार्ग, व परमार्थस्वरूप शुद्धात्मा वही १४ पूर्व का सार है। शास्त्र में उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, शुद्धता-अशुद्धता इत्यादि सबका कथन है, किन्तु उन सबका सार तो यही है कि शुद्धात्मा के सन्मुख होकर के उसका अनुभव करना। निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त आदि सबका स्पष्टीकरण इसमें समा जाता है। सत्समागम से ऐसा मार्ग सुनना सो व्यवहार है।

१४ पूर्व में 'अस्ति-नास्ति प्रवाद' नाम का एक पूर्व यहाँ अस्ति-नास्ति का कथन करते हुये गाथा ६३-६४ में कहते हैं कि—

अस्तित्वं अस्ति शुद्धं च, आत्मनः परमात्मनः ।
परमात्मा परमं शुद्धं, अप्पा परमप्प समं बुधैः ॥६३॥

नास्ति घाति कर्माणः नास्ति शल्यं च रागयं ।
दोषं नास्ति मलं युक्तं, नास्ति कुज्ञान दर्शनं ॥६४॥

आत्मा का व परमात्मा का शुद्ध स्वाभाविक अस्तित्व सदैव बना रहता है, परमात्मा का व इस आत्मा का सबका शुद्ध अस्तित्वभाव एक-सा है। आत्मा का अस्तित्व निश्चय से परमात्मा के समान है ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। हे जीव! तू अंतर में तेरे शुद्ध अस्तित्व के ऊपर दृष्टि कर, उसमें उपयोग को लगा कर ध्यानकर, यही १४ पूर्वों का सार है।

ऐसे शुद्ध परमात्मा में व अपने आत्मा के शुद्धत्वभाव में घाति कर्मों की नास्ति है, तीन शल्यों की नास्ति है, रागद्वेष की नास्ति है, सर्व मल का अभाव है, तथा कुज्ञान-कुदर्शन की भी नास्ति है। साधक जीव ऐसे परमात्मस्वरूप से अपनी आत्मा को पहिचान करके उसकी भावना करता है।

"जिन सोही है आत्मा अन्य होई सो कर्म ।
ये ही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म" ॥

(-श्रीमद् राजचन्द्र)

भगवान अरहंत परमात्मा में १८ महादोष का अभाव है, क्षुधा, तृषा, जरा, मरण, जन्म, रोग, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य, मद व अरति—ये १८ दोष अरहंतदेव में नहीं होते, एवं उनको किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक मलिनता भी नहीं होती, मिथ्याज्ञान या मिथ्या उपदेश भी नहीं होता। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा ही आप्त हैं।

इस आत्मा में भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसी ही शक्ति है। परमात्मपना आत्मा की शक्ति के गर्भ में रहा है, उस शक्ति के

बीज को चतन्य की रुचि के द्वारा पुष्ट करने से, उसमें से केवल-ज्ञान का बड़ा फल पकता है। पहिले ऐसे सर्वज्ञ स्वभाव की पहिचान व प्रतीति करना यही सच्चा जीवन है।

'श्रावकाचार' गाथा २१६ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

सम्यक्त्वं यस्य न साधंते, असाध्यं व्रत संजमं।
ते नरा मिथ्या भावेन जीवंतोऽपि मृता इव ॥२१६॥

जो जीव सम्यग्दर्शन को नहीं साधता है उसको व्रत, संयम भी असाध्य हैं। मिथ्याभाव के कारण वह जीता हुआ भी मृतक के ही समान है। अष्ट प्राभृत में भी आचार्यदेव ने मिथ्यादृष्टि को 'चल सब' (चलता-फिरता शव) कहा है।

चैतन्य भावप्राण से जीना यही आत्मा का जीवत्व है, ऐसे चैतन्यस्वभाव का जिसे भान नहीं है और राग को ही आत्मा का जीवन मानता है वह चैतन्य के जीवन से रहित है, सम्यग्दर्शन को वह नहीं साधता, इसलिये वह असाध्य है, मृतक है। जैसे मृतक कलेवर का जीवन किसी भी उपाय से साध्य नहीं हो सकता, वह असाध्य है, और उसको जिलाने का सब ही उपचार निष्फल है, वैसे सम्यग्दर्शन रहित जीव भी शुद्धात्मा के साध्य से रहित असाध्य है, जीवन रहित है, उसके व्रतादि सर्व उपचार निष्फल हैं, उसकी सर्व क्रियायें निष्फल हैं, सम्यग्दर्शनरूपी जीव ही जिसमें से निकल गया है वहां पर व्रत, तप आदि तो खाली मृतकके समान हैं, चैतन्य का आनन्दमय जीवन उसमें नहीं है। सम्यक्त्व के बिना चाहे जितना चारित्र पालन करे तो भी वह सब बिना इकाई के शून्य की तरह निष्फल है।

सम्यक्त्व युत नरयम्मि सम्यक्त्व हीनो न च क्रिया ।
सम्यक्त्वं मुक्ति मार्गस्य, हीनो सम्यक् निगोदयं ॥२१८॥
(तारन-तरन श्रावकाचार)

कदाचित् नरक में हो तो भी, सम्यक्त्व सहित जीव प्रशंसनीय है, किन्तु सम्यक्त्व-हीन जीव की कोई भी क्रिया यथार्थ नहीं होती, सम्यक्त्व की आराधना मुक्तिमार्ग है, और सम्यक्त्व का विराधक जीव निगोद में जाता है ।

योगसार में भी कहा है कि—सम्यक्त्व सहित तो नरकवास भी भला है, और मिथ्यात्व सहित स्वर्गवास भी भला नहीं। देखिये, यह सम्यक्त्व की महिमा, आचार्य समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि—

सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातंग देहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौज सम् ॥२८॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

भले ही चाण्डाल देह में हो किन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित है उसको भगवान ने देव समान कहा है, और वह भस्म से ढँके हुये तेजस्वी अंगारे के समान है, देह के भीतर उसका चैतन्यतेज झलक रहा है । और भी कहा है कि—

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है, निर्मोही गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मोहवान मुनि मोक्षमार्ग में नहीं

है, वह तो संसार-मार्ग में ही है। प्रवचनसार में उसको संसार-तत्व कहा है।

इन सब शास्त्रों की शैली के अनुसार श्री तारणस्वामी ने यह बात सादी शैली में लिखी है। राजा श्रेणिक ने पहिले मिथ्यात्व अवस्था में मुनि की विराधना करके नरक का आयुष्य बाँधा, बाद में उसने सम्यग्दर्शन पाया और भगवान महावीर के के समवसरण में उसको क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, आयुष्यबंध के कारण वह नरक में गया, किन्तु सम्यग्दर्शन सहित। इसी सम्यक्त्व के प्रताप से वह इस भरतक्षेत्र का प्रथम तीर्थंकर होगा, इन्द्र आकर उनके चरणों का पूजन करेंगे। इस प्रकार जो सम्यक्त्व सहित है वह प्रशंसनीय है। सम्यक्त्व के बिना कोई भी क्रिया प्रशंसनीय नहीं, सच्ची नहीं।

सम्यक्त्व की आराधना यह मुक्ति का मार्ग है।
सम्यक्त्व की विराधना यह निगोद का मार्ग है॥

गाथा २१९ में कहते हैं कि—

सम्यक्त्वयुत पात्रस्य ते उत्तम सदा बुधैः।
हीनो सम्यक् कुलीनस्य अकुली अपात्र उच्यते॥२१९॥

जो पात्र सम्यग्दर्शन सहित है उसको बुधजनों ने सदा उत्तम पात्र कहा है, और उत्तम कुल वाला होने पर भी जो सम्यक्त्व-हीन है उसे अकुलीन व अपात्र कहा है। अरे, पशु-पक्षी भी, जिनके पास सम्यक्त्व-रत्न है वे श्रेष्ठ हैं, उत्तम हैं, माननीय हैं, वे मोक्षमार्गी हैं। और बड़े-बड़े राजा-महाराजा या देव भी यदि सम्यक्त्व रहित हों तो वे अपात्र हैं, हीन हैं।

यह बात सुनकर, अन्तर में सम्यग्दर्शन की अचिन्त्य महिमा जगा कर उसका प्रयत्न करना चाहिये।

गाथा २२० में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—जो जीव सम्यग्दर्शन सहित है वही तीर्थंकर नामकर्म को बांध कर तीर्थंकर जन्म लेता है। वह जन्म आत्मा की शुद्धि के लिये होता है। वहाँ तीन प्रकार के कर्मों का क्षय कर डालता है। उसको यथार्थ व निश्चल मोक्ष का मार्ग विद्यमान है।

तीर्थंकर नामकर्म सम्यक्त्व सहित जीव को ही बँधता है, वह जीव आत्मशुद्धि में आगे बढ़कर केवलज्ञान प्रगट करता है, और दिव्यध्वनि के द्वारा अनेक जीवों को मोक्षमार्ग प्राप्ति का निमित्त होता है, इसके पश्चात् भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म ऐसे त्रिविध कर्मों का आत्यंतिक क्षय करके सिद्धपद को पाता है, इस प्रकार परमोपकारी निश्चय सम्यग्दर्शन साथ ही साथ रह करके जीव को सिद्धपद तक पहुँचाता है। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है उसे जानकर के मुमुक्षु को ऐसे सम्यग्दर्शन की उपासना निरन्तर प्रयत्नपूर्वक करना कर्तव्य है।

गाथा २२१ में कहते हैं कि—

सम्यक्त्वं यस्य चित्तंति, वारंवारेन सार्थयं।
दोषं तस्य न पश्यंते, सिंघ मातंगजूथयं॥

जो जीव अपने चित्त में बारबार सम्दग्दर्शन के स्वरूप का चिंतन करता है उसके पास कोई दोष आ नहीं सकते, उसके सब दोष दूर हो जाते हैं, जैसे प्रतापवन्त सिंह की गर्जना सुनते ही हाथियों के झुण्ड भाग जाते हैं, वैसे सम्यक्त्व के महान् प्रताप के आगे रागादि सब दोष दूर भाग जाते हैं। 'परमात्मपुराण'

में सम्यग्दर्शन को फौजदार की उपमा दी है, जैसे फौजदार चोर को भीतर में नहीं आने देता और नगर की रक्षा करता है, वैसे सम्यग्दर्शनरूपी फौजदार किसी भी दोष का निजस्वरूप के भीतर प्रवेश नहीं होने देता, सर्व-दोषों से वह अपने स्वरूप की रक्षा करता है। ऐसे सम्यक्त्व की आराधना वही प्रथम आराधना है। प्रथम दृढ़रूप से अंतर में सम्यक्त्व का सतत् पुरुषार्थ करना चाहिये।

'ज्ञानसमुच्चयसार' गाथा ६५ में कहते हैं कि—

प्रज्ञा अपूर्व शुद्धं च परमज्ञान समागमं।
परमात्मा परमं शुद्धं ध्यान समं बुधैः ॥६५॥

प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान वह अपूर्व शुद्धभाव है, उसके द्वारा परमज्ञान की अर्थात् उत्कृष्ट केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, शुद्धप्रज्ञा द्वारा शुद्ध परमात्मा के ध्यान से परमात्मपद प्राप्त होता है। बड़ी भक्ति के साथ ऐसे शुद्धात्मा की आराधना करना यही द्वादशांगरूप जिनवाणी की विनय है, और वही सच्चा स्वाध्याय है।

स्वकीय शुद्धात्मा का अध्ययन-चिंतन सो स्वाध्याय है। गाथा ५३९ में स्वाध्याय-तप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि—

सुद्धं सुद्ध सरूवं सुद्धं झायंति सुद्ध मप्पानं।
मिच्छा कुज्ञान विरयं, सुद्ध सहावं च सुद्ध ज्ञानत्थं ॥५३९॥

स्वाध्याय-तप का धारक शुद्धतत्वस्वरूप को ध्याता है, जो मिथ्यात्वादि से विरक्त होकर, परमशुद्ध आत्मा को ध्याय के शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करता है उसे परमार्थ स्वाध्याय-तप है। स्व का अध्ययन सो स्वाध्याय, इस स्वाध्याय का सच्चा मन्दिर

चैतन्यधाम है। चैतन्यधाम में प्रवेश न करे और अकेले बाहर के शास्त्र पढ़ा करे तो उसकी स्वाध्याय का सच्चा लाभ नहीं होता। स्व के ध्यानरूप अध्ययन सो स्वाध्याय है। 'स्व का' कहने से शुद्ध आत्मा का, क्योंकि निश्चय से शुद्ध आत्मा ही 'स्व' है। चैतन्य-मन्दिर आत्मा, उसमें प्रवेश करके शुद्धात्मा का अध्ययन करना यही स्वाध्याय-मन्दिर में सच्चा प्रवेश है। धर्मात्मा अन्तर्दृष्टि के द्वारा चैतन्य–मन्दिर में प्रवेश करके स्वाध्याय करता है।

स्वाध्याय की तरह कायोत्सर्ग, ध्यान, विनय इत्यादि का भी शुद्धस्वरूप अध्यात्मदृष्टि से दिखाया है। काया से भिन्न उत्कृष्ट सिद्ध समान शुद्धात्मा में लीनता उसी का नाम कायोत्सर्ग, इस प्रकार के सम्यक्त्व के वर्णन में कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव में रहना सो स्वयं 'संक्षेप' है। ज्ञानस्वभाव में रहना यही मोक्ष का सीधा सरल उपाय है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा शुद्धस्वरूप है उसके प्रताप से अनंत संसार टूट जाता है व परभाव टूट जाता है, यही 'संक्षेप सम्यक्त्व' है, इस सम्यक्त्व के प्रताप से संसार संक्षिप्त हो जाता है।

"श्रावकाचार" पृष्ठ ३१२-३१३ में शुद्ध षट्कर्म का स्वरूप दिखाया है—

षटकर्म शुद्ध उक्तं च शुद्ध समय सुद्धं ध्रुवं।
जिनोक्तं षट कर्मस्य केवलीदृष्ट जिनागमे ॥३२०॥

शुद्ध षट्कर्म का अभिप्राय यह है कि, रागादिभावों से रहित व ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित निश्चय शुद्धात्मा का जिसमें लाभ हो वही शुद्ध षट्कर्म है। केवली भगवान के कहे हुये जिनागम में ऐसे शुद्धभावरूप षट्कर्म को मोक्ष का कारण कहा है। देव-

पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय-संयम-तप और दान ये श्रावक के नित्य के षट्कर्म हैं, उसमें धर्मी को जितना शुद्धभाव है उतना ही शुद्ध षट्कर्म है, और जितना राग है उतनी अशुद्धता है।

विशेषार्थ में कहते हैं कि "शुद्ध षट्कर्म वे ही हैं जहां आत्मा की शुद्धता का अभिप्राय हो। देवपूजादि प्रत्येक कार्य को करते हुये भावना परिणामों की शुद्धि की हो, शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो" बीच में राग हो उसे धर्मी जीव अपना कर्तव्य या धर्म नहीं मानता। ऐसे ज्ञानपूर्वक, जिनागम में कहे हुये षट्कर्म हरेक श्रद्धावान श्रावक को पालना चाहिये। पद्मनंदी पंचविंशतिका में श्री पद्मनंदी मुनि ने श्रावकों को षट्कर्म दिखाये हैं। श्री तारण-स्वामी भी गाथा ३२१-३२२ में कहते हैं कि—

देवं देवाधिदेवं च गुरु ग्रंथ मुक्तं सदा।
स्वाध्याय शुद्ध ध्यायंते, संयमं संयमं भुतं ॥३२१॥

तपश्च अप्प सद्भावं, दानं पात्रं च चिंतनं।
षटकर्म जिन प्रोक्तं सार्धं शुद्ध दृष्टितं ॥३२२॥

"इन्द्रादि देवों करके पूजनीय वीतराग भगवान को देव मान के पूजे, सदा ही परिग्रह रहित ही गुरु माने, शुद्ध आत्मा का मननरूपी स्वाध्याय को ध्यावे, शास्त्र में कहे प्रमाण मन व इन्द्रिय-निरोध करके प्रतिज्ञा ले सो संयम है, आत्मा के स्वभाव में तपना सो ही तप है, पात्रों को दान देने का चिंतन करना दान है, यह जिनेन्द्रकथित छै कर्म हैं। इन सबके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन का होना उचित है।"

जहाँ शुद्धात्मा के ऊपर दृष्टि हो, आत्मा के अनुभव का प्रेम हो, सम्यग्दर्शन की शुद्धि हो वहाँ ही यथार्थ षट्कर्म होते हैं। श्रावक के धर्म में भी सम्यग्दर्शन मूलभूत है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक का भी कोई धर्म नहीं होता।

जैसे 'बोधप्राभृत' में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निश्चय-व्यवहार दोनों को लक्ष में रखकर जिनप्रतिमा, जिनचैत्य आदि ११ बातें अध्यात्मशैली से दिखायी हैं, वहां भावलिंगी मुनि को ही जिन-प्रतिमा व जिनचैत्य कहा है, ऐसे ख्यालपूर्वक बाहर में स्थापना-निक्षेप का व्यवहार भी होता है। व्यवहार है सही परन्तु भीतर में परमार्थ के भावसहित हो तब ही उस व्यवहार को यथार्थ व्यवहार कहा जाता है। भीतर के भान के बिना अकेले बाहर के व्यवहार में ही लगा रहे तो सम्यग्दर्शनादि का लाभ नहीं होता। लोग अकेले बाहर में ही न लगे रहें और अन्तर् स्वभाव में दृष्टि करें—इसी हेतु से तारणस्वामी ने अध्यात्मशैली से सब कथन किया है।

प्रत्याख्यान का वर्णन करते हुये गाथा ६६ में कहते हैं कि—

प्रत्याख्यानं च पूर्वं च, परोक्षं प्रत्यक्षं ध्रुवं।
परत्यक्तं अमलं शुद्धं कर्म क्षिपति बुधजनैः ॥६६॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

१४ पूर्वों में एक प्रत्याख्यान नाम का पूर्व है, उसमें प्रत्यक्ष व परोक्ष (अर्थात् निश्चय व व्यवहार) प्रत्याख्यान का वर्णन है। अन्तर में पर के त्यागस्वरूप जो अपना अमल शुद्धस्वभाव, उसमें एकाग्र होने से समस्त परभावों का छूट जाना यह निश्चय प्रत्या-ख्यान है, और बाहर में आहारादि के त्याग की शुभवृत्ति का होना यह पुण्यबन्ध के कारणरूप व्यवहार-प्रत्याख्यान है।

समयसार की ३४ वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि– अंतरस्वरूप में एकाग्र होने वाला ज्ञान स्वयं ही प्रत्याख्यानस्वरूप है क्योंकि उस ज्ञान में समस्त परभावों का त्याग है। जब ज्ञान में ही ज्ञान की स्थिरता हुई तब परभावों से छूट करके ज्ञान स्वयं अपने शुद्धस्वरूप में परिणत हुआ, वह ज्ञान स्वयं ही परभावों के प्रत्याख्यानस्वरूप है। इस निश्चय-प्रत्याख्यान का फल मोक्ष है। और आहारादि के त्याग की वृत्तिरूप जो व्यवहार-प्रत्याख्यान उसका फल मोक्ष नहीं, उसका फल तो पुण्य-बन्धन है।

स्वकीय शुद्धस्वभाव क्या और पर क्या, इसके परिज्ञान-पूर्वक ही प्रत्याख्यान होता है। ज्ञान के बिना सब वृथा है। ज्ञान ही आत्मा का चक्षु है, जिसका ज्ञान-चक्षु नहीं खुला वह अन्धा जीव मोक्षमार्ग में कैसे चलेगा?

गाथा ९२ तथा ९४ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

ज्ञानं च दर्शनं शुद्धं, ज्ञानं चरण संजुतं।
ज्ञान सह तपं शुद्धं, ज्ञान केवल लोचनं ॥९२॥
अनेक श्रुत जानाति, व्रत तप क्रिया अनेकधा।
अनेक कष्ट कर्तानि, ज्ञानहीना वृथा भवेत् ॥९४॥

आत्मज्ञान ही आत्मा की सच्ची आँख है और वही जैन-सिद्धांत का सार है। ज्ञान के बिना सब वृथा है। सम्यग्ज्ञान रहित कोई भी आचरण मोक्ष का साधक नहीं हो सकता। आत्मा को देखने वाला जो सम्यग्ज्ञान वही आत्मा की सच्ची आँख है। वह आंख जिसके नहीं सो अन्ध है, भले ही बाहर में चर्म-चक्षु उसके

विद्यमान हों, किंतु वह चक्षु भीतर में मोक्ष का मार्ग देखने के लिये तो काम में नहीं आते। चैतन्य को जो नहीं देखता वह चाहे ११ अङ्ग का पढ़ने वाला हो तो भी अन्ध है। साधुओं को आगम-चक्षु वाला कहा है। क्योंकि वे भावश्रुतरूप आगमचक्षु के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानते हैं। शुद्धात्मा को देखने वाला जो ज्ञानचक्षु है वही मोक्ष का साधक है। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही ऐसा ज्ञानचक्षु खुलता है, इसलिये सन्तों ने सम्यग्दर्शन का प्रधान उपदेश किया है।

[७]

सातवां प्रवचन

[वीर सं० २४८८ आश्विन शुक्ल ४]

जिन-शासन में १४ पूर्व का सार

卐 शुद्धात्म-अनुभूति 卐

इस 'ज्ञानसमुच्चयसार' ग्रन्थ में शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप व उसकी महिमा चलती है। चौदह पूर्व का सार शुद्धात्मा है यह बात श्री तारणस्वामी ने अध्यात्मशैली से समझाई है। सम्यग्दर्शन के साथ में जो शुद्धात्मा का ज्ञान है उसमें १४ पूर्व का सार समा जाता है। यहाँ ६७ वीं गाथा में कहते हैं कि—

नंतानंत स्वयं दृष्टं धरयंति धर्म ध्रुवं।
धर्म शुक्लं च ध्यानं च शुद्ध तत्त्वं साध्यं बुधैः ॥६७॥

साधक धर्मात्मा अनन्तानन्त गुणों के धारक अपने शुद्ध तत्व को अन्तरदृष्टि से स्वयं देखता है, व धर्म-शुक्लध्यान के द्वारा

उसको साधता है। वह आत्मा अपने ध्रुव धर्म को धारण करने वाला है।

देखो, शुद्धतत्व साध्यभूत है—ऐसा अंगपूर्वरूप जिनवाणी में कहा है। भेदज्ञानी जीव शुद्ध आत्मतत्व का साधन करता है। भावश्रुतज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव करना उसमें जिनशासन के बारह अंग का सार आ जाता है। समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में भी आचार्यदेव ने यह बात दिखायी है कि जो जीव शुद्ध आत्मा को देखता है वह सकल जिनशासन को देखता है। शुद्धात्मा की अनुभूति ही जिनशासन है।

इसमें यह बात भी आ गई कि निश्चय और व्यवहार दोनों समान नहीं हैं। स्वभाव का साधन शुद्धनय से (निश्चयनय से) होता है। यहाँ 'जिसने व्यवहार को जाना उसने जिनशासन को जान लिया' ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'शुद्धनय से जिसने शुद्धात्मा को जाना उसने जिनशासन को जान लिया' ऐसा कहा, इसमें शुद्धनय को ही मुख्यता आई। भगवान ने १४ पूर्व में राग के या व्यवहार के आश्रय से धर्म का साधन नहीं कहा। ज्ञान को ज्ञान में जोड़ना वही धर्म का साधन है, और वही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की रीति है। इससे आचार्य अमृतचन्द्रसूरि समयसार कलश गाथा १०५ में कहते हैं कि आगम में ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही अनुभूति करने का विधान है—

यदे तद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं ।
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ॥
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत् ।
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप परिणमता हुआ भासित होता है वही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है, उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्ध का हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव बंधस्वरूप है। इसलिये आगम में ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् अनुभूति करने का ही विधान है। देखो, यह आगम की आज्ञा !

साधक को बीच में शुभ राग आता है किन्तु वह बंधस्वरूप है, मोक्ष के साधन के रूप में उसका विधान नहीं है। भगवान ने मोक्ष के साधन के रूप में तो आगम में शुद्धात्मा की अनुभूति की ही आज्ञा दी है। अनन्तगुणों की धारक अपनी आत्मा स्वयं अनुभव में आवे उसी को साधकपना कहा है, इसके बिना साधकपना नहीं हो सकता। शुभराग-रूप चिंतन को व्यवहार से धर्मध्यान कहा, परन्तु वास्तव में वह न तो धर्मध्यान है और न धर्मसाधन है। व्यवहार से भी उसको धर्मध्यान तब ही कहने में आता है जबकि वह निश्चय के लक्ष सहित हो। यदि राग को ही धर्म का साधन मानें तब तो उसको व्यवहार भी नहीं कहते, उसकी तो श्रद्धा ही मिथ्या है। आप ही अन्तर्मुख होकर (स्वानुभूत्या) अपने आत्मा को देखे-अनुभवे उसे १४ पूर्व में साधक कहा है। ऐसे साधकपन में राग का आधार नहीं है। जो स्वयं अपनी आत्मा को अन्तर्मुख होकर नहीं देखता उसका साधकपना कैसा ?

प्रस्तुतं न हि पिच्छदि, अप्रस्तुतं परम सुद्धमप्पानं।
मिथ्यामयं न दिट्ठदि सुद्ध सहावेन सरूव पिच्छंतो ॥५२८॥

—'ज्ञानसमुच्चयसार'।

प्रायश्चित्त अर्थात् दोष का अभाव व ज्ञान की शुद्धि किसको होती है-यह बात कहते हैं:-जो प्रस्तुत अर्थात् बाहर में प्राप्त ऐसे शरीर, कर्म आदि प्रगट पदार्थ को नहीं देखता, और न उसे अपना मानता है,—न उसकी तरफ झुकाव करता है, व अप्रस्तुत अर्थात् बाहर में अव्यक्त-अप्रगट-गुप्त ऐसे अपने परमशुद्ध आत्मा को अन्तरदृष्टि से जो देखता है, उसकी ओर झुक के जो उसका ध्यान लगाता है,—इस प्रकार शुद्धस्वरूप को देखने वाले उस जीव को मिथ्यात्वादि दोषों के अभाव से प्रायश्चित होता है।

व्यवहार तो अनादि से चला आ रहा है इससे वह प्रस्तुत है, प्रगट दिखता है, परन्तु भीतर का परमार्थ स्वभाव अज्ञानी को अनादि से अप्रस्तुत है, ज्ञानी तो प्रगटरूप ऐसे बाह्य विषयों को छोड़ के, अप्रगटरूप ऐसे सूक्ष्म चैतन्य को अन्तरदृष्टि से ध्यान में प्रगट करता है। उसमें चैतन्य की शुद्धता प्रगट होती है व रोष का परिहार होता है,—उसी का नाम प्रायश्चित है।

और गाथा ५२९ में श्री तारणस्वामी 'रूपस्थ ध्यान' दिखाते हुये कहते हैं कि—

रागादि दोष रहियं, धम्म झानं झायंति तं मुनिना।
कुज्ञान सल्य रहियं, रूवस्थं सरूव ज्ञानस्थं ॥५२९॥

- ज्ञानसमुच्चयसार।

मुनिराज सर्व रागादि दोष रहित, ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थिर होकर जो निजरूप को ध्याते हैं उसी का नाम रूपस्थ ध्यान है। स्वरूप में स्थिर होकर उसे निर्विकल्परूप से जो ध्याता है उसे ही रूपस्थ ध्यान है।

अब 'विद्यानुवादपूर्व' की बात करते हैं। विद्यानुवादपूर्व का

सार क्या है ?–कौन सी विद्या उसमें दिखाती है ? यह कहते हैं—

वेदते वेद वेदांगं, वेदते भुवनत्रयं ।
अर्थं रत्नत्रयं शुद्धं, विद्यमान लोकं ध्रुवं ॥६८॥

—ज्ञानसमुच्चयसार ।

आत्मज्ञानरूपी विद्या को जानना यही विद्यानुवादपूर्व का सार है। आत्मज्ञानरूपी विद्या से वेद-वेदांग (अर्थात् १२ अंग व १४ पूर्व एवं दूसरे प्रकीर्णकादि) जाना जाता है, यह विद्या तीन भुवन को जानती है। विद्यमान ध्रुव तत्व को वह जानती है। शुद्ध रत्नत्रय उसका प्रयोजन है।

वही सच्ची अध्यात्मविद्या है जो कि ध्रुव विद्यमान चैतन्य-तत्व को जाने, वही आत्मिक विद्या है। ऐसी आत्मिक विद्या के बिना बाहर का जानपना या शास्त्र का जानपना यह कोई सम्यक विद्या नहीं है, क्योंकि "सा विद्या या विमुक्तये" सच्ची विद्या वह है जो मुक्ति का कारण हो। शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप विद्या (अथवा अंतर्मुख भावश्रुतज्ञानरूप विद्या) वह मोक्ष का कारण है। चैतन्यस्वभाव की विद्यमानता में से जो विद्या निकली उसमें सर्व अंग-पूर्व का सार आ गया, और वही सच्चा विद्यानुवादपूर्व का ज्ञान है। यह विद्या तीन लोक के स्वरूप को जान करके रत्नत्रयरूप प्रयोजन को साधती है। 'सब आगम भेद सु उर बसे'; जिसको ऐसी विद्या प्रगटी उसके अंतर में सब शास्त्रों का रहस्य समा गया है। भगवान के कहे हुये विद्यानुवादपूर्व का रहस्य यह है कि भावश्रुत को अन्तर्मुख करके, आत्मा को आत्मा से ही जानना। आत्मा को देखने वाला भावश्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान वह सम्यक् विद्या है, और यह विद्या मोक्ष का कारण है। ऐसी विद्या के बिना नर पशु समान है।

ज्ञानी महात्मा क्या करता है ? यह बात ६९ वीं गाथा में कहते हैं—

अनो कर्म ममलं शुद्धं वारं वारं च सार्थयं ।
शुद्ध तत्व दर्शनं नित्यं, आत्मनं परमात्मनं ॥६९॥

शरीरादि नोकर्म रहित निर्मल शुद्ध परमात्मतत्व को अथवा परमात्मा के जैसे अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को, तत्वज्ञानी महात्मा बारबार देखता है-ध्याता है। ऐसे शुद्धात्मा के दर्शन करने में परमार्थ देवदर्शन व गुरुउपासना भी समा जाती है।

१४ पूर्व में एक 'कल्याणप्रवाद' नामक पूर्व है, उसका संकेत करके कहते हैं कि-कल्याणप्रवाद पूर्व में आत्मा का कल्याण हो, ऐसी बात कही है—

कल्यानं कल्पयं शुद्धं पूर्व कल्पंति शाश्वतं ।
ज्ञानमयं च तत्वार्थं, कल्यानं ध्यान संजुत्तं ॥७०॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

देखो, कल्याणप्रवादपूर्व में क्या कहा ?-शुद्ध अविनाशी ज्ञानमय निश्चय तत्व जोकि कल्याणकारक है वह कल्याणप्रवाद-पूर्व में दिखाया है, उसके ध्यान से अविनाशी कल्याण होता है।

कल्याणप्रवाद पूर्व में तीर्थंकर भगवंतों के गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान व मोक्ष इन पञ्चकल्याणकों का वर्णन है। उनका यहाँ निश्चय की विवक्षा से कथन करते हैं कि, कल्याणपूर्व आत्मा के कल्याण का मार्ग दिखाता है। चैतन्यशक्ति के गर्भ में परमात्मपन भरा है उसको जहाँ प्रतीत में लिया वहाँ परमात्मा गर्भ में आया, यही परमार्थ गर्भकल्याणक हुआ। पीछे उसमें लीन होकर के

जहां केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगटे वहां साक्षात् परमात्मा प्रगटे, यह हुआ परमात्मा का अवतार। आत्मा की शक्ति के गर्भ में से परमात्मपन का जन्म हुआ, यही परमार्थ जन्मकल्याणक है।

शुद्ध चैतन्य के ज्ञानध्यान से कल्याण हो-ऐसी बात कल्याणपूर्व में दिखाई है, किंतु कल्याणपूर्व में भगवान ने ऐसा तो नहीं कहा कि राग से कल्याण होगा। व्यवहार तो पराश्रित बहिर्भाव है, उसमें जीव का कल्याण नहीं। निश्चय का विषय जो शुद्ध अंतर तत्व उसके भीतर घुस के अनुभव करने से कल्याण होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यही कल्याण है, इसके अतिरिक्त पर की तरफ का राग-भले ही वह राग परमात्मा के प्रति का हो, उसमें जीव का कल्याण नहीं है, और न वह राग कल्याण का साधन भी है।

'ममलपाहुड़' में ७४ वाँ प्रकरण 'कल्याणक फूलना' है, उसमें अध्यात्मिक दृष्टि से पंचकल्याणक बताये हैं, यथा—

जब जिनु गर्भवास अवतरियो, ऊर्ध्व ध्यान मनु लायो।
दर्सन न्यान चरन तव धरियो, उव उवन सिधि चितु लायो॥

यहां कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि श्रद्धावान भव्यजीव के मनरूपी गर्भ में श्री जिनेन्द्र भगवान का वास है। वह भव्यजीव रत्नकुक्षि माता की तरह कहता है कि-मैंने सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को धारण किया है, मेरे उदर में शुद्धात्मा की प्रतीति प्रगटी है, इस सम्यग्दर्शन के प्रताप से आत्मा में मोक्ष के बीज लग गये हैं। अब मुझे आत्मिकमार्ग अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग मिल गया है। मेरी शक्ति के गर्भ में परमात्मा विराज रहे हैं। अब मुझे तरण-तारणस्वामी अरहंत परमात्मा मिल गया, वह स्वयं संसार

से तिर गये हैं और तिरने का मार्ग दिखाकर के दूसरे जीवों के भी तारणहार हैं।

जन्मकल्याणक की ओर संकेत करके कहते हैं कि जैसे तीर्थंकर के जन्म से जगत में प्रकाश फैलता है वैसे शुद्ध परमात्मा के अवतार से मेरे हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश प्रगटा है.... मेरी आत्मा में धर्म का अवतार हुआ, वह महाकल्याणकारी है। रे भैय्या ! मुझे परम सहकारी जिनेन्द्र भगवान सहज में मिल गये हैं। आत्मा में शुद्धात्म-परिणति का प्रगट होना, यही निश्चय से जन्मकल्याणक है। ऐसा जन्मकल्याणक होने पर आत्मा के अनुभव में आनन्दजल के कलश भर-भर के आत्मा का अभिषेक होता है। पांचों कल्याणक का इसी शैली से वर्णन किया है।

७९ वें प्रकरण में कलश-अभिषेक सम्बन्धी पद हैं, उनमें श्री तारणस्वामी कहते हैं कि स्वानुभवरूपी कलश हैं, यह कलश भर भर के १००८ कलशों से २४ तीर्थंकर भगवन्तों का अभिषेक होने पर चतुष्टय उत्पन्न होता है। आत्मारूपी 'इन्द्र' इष्ट परमात्मारूप तीर्थंकर का, स्वानुभवरूप कलश से, आनन्दरूपी जल भर-भर के अभिषेक करता है। जैसे इन्द्र तीर्थंकर परमात्मा का रूप देख-देखकर आश्चर्य पाते हैं और उन्हें तृप्ति नहीं होती, वैसे अंतर में इन्द्र स्थानीय आत्मा अपना परम स्वभावरूप तीर्थंकर परमात्मा का रूप देख-देखकर आनंदाश्चर्य पाता है और उसका बारबार अनुभव करने पर भी तृप्ति नहीं होती। शुद्धात्मा का आचरण यह तो ऐरावत हाथी है, उस आचरणरूप हाथी के ऊपर तीर्थंकर परमात्मा को आरूढ़ करके, साधक जीव आनंद-जल से पूरित स्वानुभवरूप कलश से अभिषेक करता है, शुद्ध-परिणति पाण्डुक-शिला है। ऐसा कलशाभिषेक करने से अर्थात्

बारबार आत्मा के अनुभव का अभ्यास करने से जीव स्वचतुष्टय से सुशोभित ऐसे परमात्मपद को पाता है !

जैसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अष्टप्राभृत में 'दंसण-मूलो धम्मो' कहकर धर्म का मूल सम्यग्दर्शन बताया है और उसकी अलौकिक महिमा प्रकाशित की है वैसे यहां 'श्रावकाचार' में श्री तारणस्वामी भी कहते हैं कि जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना एक भी धर्म-क्रिया नहीं होती, सम्यक्त्वरहित सर्व क्रियायें निष्फल हैं—

यस्य सम्यक्त्व हीनस्य उग्रं तप व्रत संजमं ।
सर्वा क्रिया अकार्या च मूल विना वृक्षं यथा ॥२०८॥
(-श्रावकाचार)

सम्यक्त्वहीन जीव को उग्र तप-व्रत-संयम आदि सभी क्रियायें अकार्य हैं-व्यर्थ हैं, उनमें मोक्षमार्ग नहीं है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं होता वैसे सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। गाथा २०९ में कहते हैं—

संमिक्तं जस्य मूलस्य, साहा व्रत डाल नंत नंताई ।
अवरेवि गुणा होंति, संमिक्तं हृदयं यस्य ॥२०९॥
(-श्रावकाचार)

जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शनरूपी मूल विद्यमान है उसको दूसरे अनेक गुणरूपी शाखायें होती हैं, जहां सम्यग्दर्शन हो वहां परिणामों की अनन्तगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है, वीतरागता के बढ़ने से व्रत-चारित्र आदि शाखायें निकलतीं हैं और केवलज्ञानरूपी महान् फल पकता है।

सम्यक्त्वं विना जीवो जानै श्रुतयंग बहु भेदं ।
अन्ये यं व्रत चरणं मिथ्यात्व वाटिका जालं ॥२१०॥
(-श्रावकाचार)

सम्यक्त्व के बिना जीव अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान के भंग-भेद जाने, ११ अंग ९ पूर्व तक पढ़ें व अनेक प्रकार के व्रताचरण करें तो भी ये सब मिथ्यात्वरूपी बाग के जाल के समान हैं। सम्यग्दर्शन से रहित सब व्यवहार-ज्ञान व सब व्यवहार-चारित्र मिथ्या ही है, उस व्यवहार के बगीचे में कोई मोक्षरूपी फल पकने वाला नहीं, वह ज्ञान-चारित्र का बाग मिथ्यात्वरूपी अग्नि से भस्मीभूत हो जायगा। मोक्षरूपी फल तो सम्यक्त्व के बगीचे में ही लगता है।

गाथा २११ में कहते हैं कि—

सुद्ध संमिक्त उक्तं च, रत्नत्रयं च संजुतं ।
सुद्ध तत्वं च साद्धं च, संमिक्ति मुक्ति गामिनो ॥२११॥
(-श्रावकाचार)

जिसको शुद्ध सम्यग्दर्शन है वही जीव रत्नत्रय से युक्त होता है, उसी को शुद्धात्म-प्राप्ति होती है और वही मुक्तिगामी होता है।

सम्यक्त्व की ऐसी महिमा जान करके जीव को दृढ़रूप से उसका उद्यम करना चाहिये।

गाथा २५० में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि शुद्धात्मा का प्रकाशक ज्ञान ही स्वयं तीर्थस्वरूप है, इससे जिसने शुद्धात्मा का अनुभव किया उसने परमार्थ तीर्थयात्रा की, वह मोक्ष का कारण है, और सम्मेदशिखर जी आदि तीर्थों की यात्रा सो व्यवहार

तीर्थयात्रा है, वह पुण्य-बंध का कारण है :

ज्ञानं तत्वानि वेदंते शुद्ध समय प्रकाशकं ।
शुद्धात्मानं तीर्थं शुद्धं ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं ॥२५०॥

(-श्रावकाचार)

ज्ञान वह है जो तत्वों को यथार्थ जान करके शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करे, शुद्ध आत्मा ही संसार से तारने वाला शुद्ध तीर्थ है, तिरने का भाव जिसमें प्रगटे उसी का नाम तीर्थ; शुद्ध आत्मा को झलकाने वाला ज्ञान ही तीर्थ है। उस ज्ञान का प्रयोजन ज्ञान ही है, राग ज्ञान का प्रयोजन नहीं। अन्तर के ज्ञान-स्वभाव में जाकर ज्ञानभावरूप परिणमना—यही ज्ञान का प्रयोजन है, और वही परमार्थ तीर्थयात्रा है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, स्वानुभव ही सबसे बड़ा तीर्थ है, स्वानुभव ही सर्वशास्त्रों का सार है, स्वानुभव ही केवलज्ञान का दातार है। इसलिये अतिशय प्रेम से इस स्वानुभव का दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे स्वानुभव ज्ञान में ज्ञान का ही अवलंबन है, राग का अवलम्बन नहीं। उपयोग को अंतर्मुख करके ज्ञान से ज्ञान का अवलंबन करने से केवलज्ञान प्रकाश खिल जाता है।

गाथा २३६ में भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ही शुद्ध तीर्थ है—

दर्शनं तत्वार्थ श्रद्धानं तीर्थं शुद्धं दृष्टितं ।
ज्ञानमूर्तिः संपूर्ण स्वात्मदर्शन चिंतनं ॥२३६॥

(-श्रावकाचार)

तत्वार्थ का श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है, और शुद्ध दृष्टि से वही भवसागर से तारनेवाला तीर्थ है, उसमें सर्वगुणसम्पन्न

ज्ञानमूर्ति स्वात्मा का दर्शन-चिंतन है। निश्चय से तत्त्वार्थ-श्रद्धान कहो या शुद्धात्मा का दर्शन कहो, वही तीर्थ है; सात तत्त्वों का श्रद्धान शुद्धात्मा क अनुभव सहित हो तब ही यथार्थ है।

श्री तारणस्वामी 'चतुर्विध संघ' नामक प्रकरण में कहते हैं कि—

* आत्मा का स्वभाव जयवंत रहो.
* वीतरागता के प्रकाश की जय हो.
* आत्मरमण की जय हो.
* सिद्ध परमात्माओं की जय हो.
* आत्मानुभव की जय हो.
* साधक शुद्धात्मानुभव की जय हो.
* शुद्धात्माओं के संघ की जय हो.
* आत्मा में परिणमन की जय हो.
* मोक्षरूप हित के उदय की जय हो.
* केवली के कथन-जिनवाणी की जय हो.
* स्वाभाविक साधन की जय हो.

ऐसे बहुत प्रकार से कहकर शुद्धात्मा के अनुभव की उपादेयता बताई है।

'श्रावकाचार' में सामायिक, उपवास आदि के कथन को करते हुये कहा है कि शुद्ध स्वात्मा के चिंतन से सामायिक होती है। (गा० ४०७) शुद्ध दृष्टि से शुद्धात्मा में स्थिर होकर जिसने संसार सम्बन्धी राग को छोड़ दिया है और जो शुद्धतत्त्वरूप हो

गये हैं उनका ही उपवास है। शुद्धात्मा के समीप जाकर जो बसे, उसमें ही उपयोग को लगावे, उसको ही उपवास व प्रोषधोपवास आदि प्रतिमा होती है। (गाथा ४०८-४०९)

शुद्ध दृष्टि सहित चैतन्य-स्वभाव के समीप बसना-ऐसा जो उपवास, उसका फल क्या है ? यह कहते हैं—

उपवास फलं प्रोक्तं मुक्ति मार्ग च निश्चयं ।
संसार दुःख नासंते, उपवासं शुद्धं फलं ॥४१२॥
(-श्रावकाचार)

उपरोक्त शुद्ध उपवास का फल निश्चय से मोक्षमार्ग है, और संसारदुःख उससे दूर हो जाता है । परन्तु—

सम्यक्त्व विना व्रतं येन तपं अनादि कालयं ।
उपवासं मास पासं च संसारे दुःख दारुणं ॥४१३॥
(-श्रावकाचार)

सम्यक्त्व के बिना कोई अनादिकाल से व्रत पाले, तप करे, महीना या पन्द्रह दिन के उपवास करे तो भी वह संसार के दारुण दुःख को ही भोगता है । और सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावरूप एक भी उपवास करे तो वह जीव अवश्य मोक्ष को पावे—इसमें संशय नहीं । उसी प्रकार सचित्तत्याग पडिमा किसको होती है ?-तो कहते हैं कि, सचेत चिंतनं अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसका जो चिंतन करता है उसे ही मिथ्यात्व के त्याग से सचेत पडिमा होती है। ऐसी शैली से श्री तारणस्वामी ने बहुत कथन किया है ।

१४ पूर्व में १४ वां पूर्व 'त्रिलोक बिन्दुसार' नामक है, उसका लक्ष करके कहते हैं कि—

मध्यस्थान मयं रूपं पद विंदं च विंदते ।
त्रिलोकं अर्थ शुद्धं, ज्ञानं चरणं तं ध्रुवं ॥७१॥
सम्यक्त्वं च समयं शुद्धं, पंच दीप्ति समं पदं ।
त्रिलोकं त्रिभुवनं अर्थं अप्पा परमप्पयं ध्रुवं ॥७२॥
मध्यं च पद विदं च पदार्थं पद वेदन्ते ।
व्यंजनं पदार्थं शुद्धं ममात्मा अमलं ध्रुवं ॥७३॥

—ज्ञानसमुच्चयसार ।

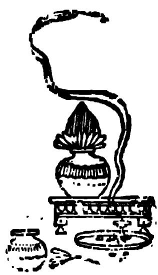
(श्री तारणस्वामी के मूल ग्रन्थों की भाषा कुछ ऐसे ढंग की है कि उसका शब्दार्थ स्पष्ट समझने में कठिनाई होती है, परन्तु उनके कथन का सार शुद्धात्मा के अनुभव की प्रधानता दिखाने का है ।)

'त्रिलोक बिन्दुसार' नाम के पूर्व में १२,५०,००००० (साढ़े बारह करोड़) मध्यम पद हैं, प्रत्येक पद में ५१,००,००००० इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक हैं। इतना बड़ा त्रिलोक बिन्दु-सार नाम का महत्व का पूर्व है, उसमें क्या कहा है ?—तीन लोक के पदार्थों का व तीन लोक के साररूप शुद्धात्मा का स्वरूप त्रिलोक बिन्दुसार में दिखाया है । केवलज्ञानस्वरूप आत्मा तीन लोक में उत्तम पदार्थ है, आत्मा परमात्मा के समान है, ऐसा शुद्ध आत्मा व शुद्ध रत्नत्रय ही तीन लोक का सार है और वही त्रिलोक बिन्दु पूर्व का सार है ।

हे जीव ! तीन लोक में उत्तम तू ही है....'त्रिलोक बिन्दु-सार' में जितने पदार्थों का कथन किया है उसका सार यह है

कि मेरा आत्मा निश्चय से सिद्ध समान शुद्ध है-ऐसा अनुभव करना। तीन लोक में सार-उत्तम ऐसा जो शुद्धात्मा, उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगटे यही त्रिलोक बिन्दु का सार है, यही १४ पूर्व का सार है।

अरिहन्तपद आत्मा में है, सिद्धपद आत्मा में है, परमात्मपन आत्मा के पेट में है, आत्मा की शक्ति में सर्वज्ञपद भरा है, ऐसी जिसने श्रद्धा की उसने अपने श्रद्धारूपी गर्भ में परमात्मा को धारण किया, और अब अल्पकाल में ही वह साक्षात् परमात्मा बन जायगा, ऐसे शुद्धात्मपद को दर्शाने वाली वाणी भी शुद्ध है। राग से धर्म होगा—ऐसा कहने वाली वाणी भी अशुद्ध है-मिथ्या है। त्रिलोक बिन्दुसार में तीन लोक के सर्व पदार्थ उनकी पर्यायसहित दिखाये हैं, उन सब पदार्थों में सारभूत मेरा शुद्ध आत्मा है—ऐसा स्वानुभव ही सर्व पूर्व का सार है।



[८]

आठवां प्रवचन

[वीर सं० २४८८ आश्विन शुक्ल ५]

भेदज्ञान मोक्षमार्ग का मूलगुण है
द्वादशांग का सार
स्वानुभूति में समाता है

इस ज्ञानसमुच्चयसार में अध्यात्मशैली से सम्यग्दर्शन को खास महत्व देकर के कथन किया है। सम्यग्दर्शन के बिना निःशल्यता नहीं होती और निःशल्यता के बिना ध्यान नहीं होता। गाथा ७४ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

विशल्यं शल्य मुक्तस्य, क्रीयते ध्यान शुद्धयं।
परमानन्द आनन्दं, परमात्मा परमं पदम् ॥७४॥

मिथ्यात्व सबसे बड़ा शल्य है, मिथ्यात्वादि शल्यरहित

निःशल्य महात्मा को शुद्धात्मा का ध्यान होता है, वह ध्यान परमानन्द स्वरूप है और उससे उत्कृष्ट आनन्दमय परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

मोक्षार्थी को पहिले देव-गुरु-धर्म का व शुद्ध आत्मा का स्वरूप पहिचान कर, निःशंक प्रतीति करके निःशल्य होना चाहिये। मिथ्यात्व शल्य, माया शल्य, व निदान शल्य, इन तीनों शल्यों से रहित, निःशल्य धर्मात्मा निर्मल ध्यान कर सकता है। जिसके अन्तर में मिथ्यात्वादि शल्य है उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप ध्यान होता नहीं, और व्रतादि भी नहीं होते।

परम आनन्द का देने वाला ऐसा ध्यान शल्यरहित धर्मात्मा को ही होता है, सम्यग्दर्शनपूर्वक ध्यान से ही परमानन्दरूप परमात्मपद प्राप्त होता है। इसके बिना स्वाध्यायादि करे या व्रत तप करे किन्तु ये सब शल्यसहित हैं, उनमें आत्मा का किंचित् हित नहीं होता और न आनन्द की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव की ज्ञानप्रभा कैसी है ? कहते हैं—

लोकालोकं च वेदंते, विद्यमानो सुयं प्रभा ।
कुज्ञानं विलयं याति, ज्ञानं भुवनं भास्करं ॥७५॥

वर्तमान में सम्यग्दृष्टि को जितना श्रुतज्ञान विद्यमान है उसमें भी इतनी शक्ति है कि वह लोकालोक के पदार्थों का स्वरूप जान लेता है, सम्यक् श्रुतज्ञान की प्रभा लोकालोक को जान लेती है, यह ज्ञान भुवनभास्कर अर्थात् जगत का प्रकाशक है, इस ज्ञान-प्रकाश से अज्ञान का विलय होता है।

बहुत लोगों को तो केवलज्ञान के अचिन्त्यसामर्थ्य का भी विश्वास नहीं आता, यहां तो कहते हैं कि श्रुतज्ञान भी अचिन्त्य

सामर्थ्य वाला है। सम्यक् श्रुतज्ञान की प्रभा भी ऐसी सामर्थ्यशाली है कि वह लोकालोक के स्वरूप को जान लेती है। केवलज्ञान में व श्रुतज्ञान में सिर्फ प्रत्यक्ष व परोक्ष का अन्तर समझमें आता है, श्रुतज्ञान में सब पदार्थों के निर्णय करने की शक्ति है। उस जगत्प्रकाशी सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान का विलय हो जाता है। भुवनभास्कर ज्ञानप्रकाशी सूर्य ऊगा कि अज्ञान-अंधकार भागा। स्व क्या और पर क्या ? स्वभाव क्या और विभाव क्या ? निश्चय क्या और व्यवहार क्या ? उपादान क्या और निमित्त क्या ? स्वभाव क्या और संयोग क्या ?–इन सबका निर्णय सम्यक् श्रुतज्ञान कर लेता है, और इन सबका निर्णय करके वह ज्ञान अन्तरस्वभाव की ओर जाता है, बारह अंगों का ज्ञान भले ही विद्यमान न हो तो भी उन सबका सार इस अन्तर्मुखी ज्ञान में समा जाता है।

ऐसा श्रुतज्ञान-भेदज्ञान प्रगट करना यह मूलगुण है, मूलधर्म है, और बाद में ध्यान के द्वारा विशेष शुद्धता प्रगटे–वह उत्तरगुण है। मूलगुण व उत्तरगुण का अध्यात्मशैली से कथन करते हुये गाथा ३८३ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

गुन रूव मेय विज्ञानं ज्ञान सहावेन संजुत्त धुव निश्चं।
मूल गुनं सं सुद्धं उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं ॥३८३॥

ज्ञानस्वभावी आत्मा के दृढ़ निर्णय से भेदविज्ञानरूप गुण का धारण करना सो मूलगुण है, इसके बाद शुद्धता का उत्तरोत्तर बढते जाना सो उत्तरगुण है। भेदज्ञान ही असली मूलगुण है, इसके बिना व्यवहार–मूलगुण (श्रावक के ८ मूलगुण व मुनि के २८ मूलगुण) का कोई महत्त्व नहीं। भेदज्ञानरूप मूलगुण जिसको नहीं वह चाहे त्यागी भी हो और व्यवहार मूलगुण—उत्तरगुण का

पालन भी करे तो भी उसको सचमुच में गुण या धर्म नहीं कहते। मद्य-मांस-मधु आदि के त्याग मात्र से अपने को श्रावक मान ले, या अचेलकता आदि मात्र से अपने को श्रावक मान ले, या अचेलकता आदि से अपने को मुनि मान ले, तो भी सचमुच में उसको श्रावक का या मुनि का एक भी मूलगुण नहीं-यदि भेदज्ञानरूपी मूलगुण प्रगट न करे। 'मूलं नास्ति कुतो शाखा ?' सब गुणों का मूल तो भेदज्ञान है, भेदज्ञानरूपी मूल ही जहां नहीं वहां अन्य गुणों की शाखा कैसी ? पहिले तो जिसको भेदज्ञानरूपी मूलगुण हो वही बाद में आत्मध्यान के द्वारा रागादि को दूर कर, उत्तरोत्तर शुद्धता की वृद्धि करता-करता चारित्र व केवलज्ञान प्रगट करता है, उसको यहां उत्तरगुण कहा है। पहिले 'मूल' और बाद में 'उत्तर' होता है। मूलगुण का ही जिसको छेद है उसको उत्तरगुण कहां से होगा ? जिसको भेदज्ञान ही नहीं उसको चारित्र या केवलज्ञान कहां से होगा ? ऐसे भेदज्ञानरूप मूलगुण-निश्चय गुण के बिना अकेले व्यवहार मूलगुण के शुभराग में आत्मा का कल्याण नहीं है।

मोक्षरूपी फल को उत्पन्न करने वाला जो आत्मधर्मरूपी वृक्ष उसका मूल भेदज्ञान है। जैसे दूज का चन्द्र बढ़ते-बढ़ते पूर्ण होता है वैसे भेदज्ञान के द्वारा जो शुद्धात्मानुभव हुआ वह बढ़ते बढ़ते वीतरागता व केवलज्ञान होता है। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन को मूलगुण कहा है, और बाद में आत्मशुद्धि की वृद्धि होती जाय उसको उत्तरगुण कहा है। ऐसे मूलगुण व उत्तरगुण के बिना मुनिपना नहीं होता। जिसने ऐसे गुण प्रगट करके रागादि परभावरूप चेल-स्वभाव छोड़ दिया है,—जैसे वस्त्र देह को ढकता है वैसे परभावरूप वस्त्र शुद्धस्वभाव को ढक देता है- ऐसे परभावरूप वस्त्र का ग्रहण जिसने छोड़ दिया है-उसको ही

अचेलक मुनिपद होता है।

'ज्ञानसमुच्चयसार' अर्थात् १२ अंग का सार क्या है यह कहते हैं—

पूर्वं पूर्व उक्तं च द्वादशांग समुच्चयं।
ममात्मा अङ्ग साधं च, आत्मनं परमात्मनं ॥७६॥

पूर्व एवं पूर्वांगरूप जो समुच्चय बारह अंग, उसके कथन का सार यह है कि मेरी आत्मा शरीर सहित होने पर भी निश्चय से यह आत्मा परमात्मा है। निश्चय रत्नत्रयस्वरूप आत्मा के अनुभव तक पहुँचना यह सर्व जिनवाणी के ज्ञान का सार है। देह होने पर भी देह से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा का स्पष्ट प्रतिभास होना, मेरा आत्मा देह से अस्पर्श्य, चैतन्यशरीरी परमात्मा है, जैसा अरिहन्त व सिद्ध परमात्मा है वैसा ही मेरा आत्मा है,— ऐसे निजात्मा का गाढ निश्चयपूर्वक भान व वेदन होना, यह बारह अंगरूप सर्वश्रुत का सार है। समयसार गा० १५ में भी कहा है कि जिनशासन का सार क्या ?-कि शुद्धात्मा ही जिनशासन का सार है, शुद्धात्मा को जिसने देखा उसने समस्त जिनशासन को देखा। निश्चय से जो शुद्धात्मा की अनुभूति है वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है, वही सर्वश्रुत का सार है और चारों आराधनायें भी उसमें ही समा जातीं हैं।

सम्यग्दर्शनं शुद्धं, ज्ञानं शुद्ध मयं ध्रुवं।
चरणं शुद्ध पदं सार्धं, सहकारेण तपं ध्रुवं ॥७७॥
आराहनं च चत्वारि, भावनं शुद्ध चेयनं।
मूदमूर्तिं समं शुद्धं अप्पा परमप्प संजुतं ॥७८॥

—ज्ञानसमुच्चयसार।

शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, शुद्धात्मा के स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान, शुद्धात्मा में आचरणरूप सम्यक्चारित्र व इन तीनों रत्नों के साथ चैतन्य के प्रतपनरूप तप—ऐसी चारों आराधनाएं शुद्ध चेतना भावरूप हैं, और वही बारह अङ्ग का सार हैं। आत्मा मोम की मूर्ति के समान शुद्ध परमात्मा तुल्य है। ज्ञानी धर्मात्मा ने सुदृष्टि से बारह अंगरूप श्रुत-समुद्र का मंथन करके क्या निकाला ?—कि परम अमृतरूप चैतन्यरत्न का अनुभव प्राप्त किया। अरे जीव ! ऐसी तेरी चैतन्य चीज है, उसको अन्तर में देख, यही सर्व सन्तों का व सर्व शास्त्रों का उपदेश है।

'भगवती आराधना' में सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र व तप इन चार आराधनाओं का वर्णन किया है, वहाँ भी कहा है कि आराधना ही सर्वश्रुत का सार है। और आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध करना, अर्थात् आत्मा को शुद्ध स्वभावरूप अनुभव करना,—इस अनुभव में चारों आराधनाएं समा जाती हैं। भगवती आराधना में तो कहते हैं कि तीन लोक में सार ऐसी आराधना जिसने प्राप्त की वह 'भगवान' है।

तेल्लोक सव्व सारं, चउगइ संसार दुक्खणासयरं ।
आराहणं पवण्णो, सो भयवं मुक्खपडिमुलं ॥१९२३॥

तीन लोक के समस्त साररूप, और चतुर्गति संसार के दुःख का नाश करने वाली, तथा मोक्ष के मूल्यरूप ऐसी आराधना से जो सम्पन्न है वह भगवान है। सर्वश्रुतज्ञान आराधना से ही निबद्ध है, अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो आराधना उसका ही विस्तार सर्वश्रुत में है।

मोक्ष साधन में कारण व कार्य दोनों शुद्ध हैं, उनको जानना

चाहिये—

कारणं कार्य्यं सिद्धं च, तं कारण कार्य उद्यमं ।
स कारणं कार्य शुद्धं च, कारणं कार्यं सदा बुधैः ॥८०॥
कारणं दर्शनं ज्ञानं, चरणं शुद्ध तपः ध्रुवं ।
शुद्धात्मा चेतना नित्यं, कार्यं परमात्मा ध्रुवं ॥८१॥

—ज्ञानसमुच्चयसार ।

कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिये कारण-कार्य को उद्यमपूर्वक जानना चाहिये । मोक्ष के साधन में कारण व कार्य दोनों शुद्ध हैं, बुधजनों को ऐसे शुद्ध कारण-कार्य का सेवन करना चाहिये । शुद्धात्मा का अनुभव ही शुद्ध साधन है । शुद्धात्मा का चेतनारूप जो शुद्ध दर्शन–ज्ञान-चारित्र व तप वह कारण है और उसके द्वारा नियम से परमात्मपदरूपी कार्य साधना है ।

श्री तारणस्वामी ने वात्सल्य, भक्ति, अनुकम्पा आदि का भी अध्यात्मशैली से कथन किया है । भेदज्ञान से शुद्धात्मा की जो परम प्राप्ति यही परमार्थ वात्सल्य है । (देखिये, ज्ञानसमुच्चयसार गाथा २३५–२३६)

गाथा २३७–३८–३९ में अनुकम्पा का कथन करते हुये कहते हैं कि—समस्त जीवों के ऊपर दयाभावरूप अनुकम्पा राग सहित होने से व्यवहार है, और निश्चय अनुकम्पा शुद्ध वीतरागभाव है । सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव के द्वारा जिसने परभावरूप हिंसा से आत्मा को बचाया उसको निश्चय अनुकम्पा है । ऐसी अनुकम्पा मोक्ष का कारण है ।

दर्संति शुद्ध तत्वं, अप्पं च अप्प गुने हि दर्संति ।
अप्पा परमप्पानं, अनुकंपा लहति निव्वानं ॥२३९॥

निश्चय अनुकम्पा शुद्ध आत्मतत्व को तथा आत्मगुणों को देखती है, आत्मा को परमात्मस्वरूप से अनुभवती है, ऐसी अनुकम्पा ही निर्वाण में ले जाती है। इसके सिवाय दयाभावरूप जो शुभराग है वह तो कषाय सहित है, सत्य वीतराग आत्मिक भाव से वह विरुद्ध है, वह मात्र पुण्यबंध का कारण है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं कि मोक्ष में ले जाय।

औषधिदान के बारे में गा० २८१ में कहते हैं कि, सच्चा औषधिदान वह है कि जिसमें संसारभ्रमणरूप रोग की मुक्ति के लिये जिनोपदेशरूप औषधि का ग्रहण किया जाय, और उसका सेवन (साधन) किया जाय। जिनेन्द्र भगवान के उपदेशरूप औषधि का ग्रहण करके, उसमें कहे हुये शुद्धात्मा के अनुभव से भवरोग को मिटाना यही परमार्थ औषधिदान है। जो संसार-रोग से छूटना चाहे उसको स्वयं ऐसी औषधि का सेवन करना चाहिये और दूसरे भाई-बहिनों को भी यही औषधि खिलाना चाहिये। सबसे बड़ा रोग भवरोग है, वह रोग जिससे मिटे ऐसी औषधि (शुद्धात्मा के अनुभवरूप औषधि) आप सेवें और दूसरों को सेवन करावें यह औषधिदान है।

आत्मभ्रांति सम रोग नहिं सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं औषध विचार ध्यान॥

(-श्रीमद् राजचन्द्र)

गुरु-आज्ञा क्या है?-शुद्धात्मा को पहिचान के उसका ध्यान करना यही गुरु-आज्ञा है, और वही भवरोग मिटाने की औषधि है।

फिर आहारदान के बारे में भी (गाथा २८५-२८६ में) कहते हैं कि—

आहार दान सुद्धं, ज्ञानं आहार दिंति पत्तस्य ।
तिक्तं जीव आहारं, ज्ञान आहार कुनय भय हननं ॥२८५॥
आहार दान सुद्धं, पत्तं जो देई भाव सुद्धं च ।
सो भव दुक्ख विनासै, पत्तं आहार ज्ञान स सहावं ॥२८६॥

—ज्ञानसमुच्चयसार ।

शुद्ध आहारदान वह है कि पात्र को ज्ञान का आहार दिया जाय । लौकिक भोजन से तो शरीर की एकबार की भूख मिटती है किन्तु यह ज्ञान-भोजन तो आत्मा की भव-भव की भूख मिटा देता है, और मिथ्यात्वादि का तथा मरण का भय भी इस ज्ञान से ही दूर हो जाता है इसलिये परमार्थ अभयदान भी यही है। धर्मात्मा वगैरह को भक्तिपूर्वक आहारादि दान का भाव सो शुभ-राग है । सम्यग्दृष्टि जीव पात्र-अपात्र को पहिचान के पात्र जीव को शुद्धात्मा के अनुभवरूप उपदेश देता है, जिसके सेवन से पात्र जीव भवरोग का नाश कर देता है । सच्चा आहारदान व अभयदान आत्मज्ञान ही है-जिससे कि आत्मा परमतृप्ति पाता है व निर्भय होता है । ज्ञानदान भी यही है व भवरोग को मिटाने वाला औषधिदान भी यही है ।

अतिथि संविभाग का वर्णन करते हुये गाथा ४९६-४९७ में कहते हैं कि—

अतिथिं सुयं विभागं, मिथ्या मय राग दोस विरयंतो ।
अज्ञानं न हु पिच्छै, सुद्ध सहावं च पिच्छये अप्पा ॥४९६॥
सुयं विभागं सुद्धं, अन्यो पुग्गल वियान अप्पानं ।
विवगत सरूव सुद्धं, अप्पा परमप्पयं जानं ॥४९७॥

—ज्ञानसमुच्चयसार ।

'अ-तिथि' अर्थात् जिसको कोई तिथि नहीं, जिसको काल की मर्यादा नहीं, ऐसा अनादि-अनंत शुद्धात्मस्वरूप उसका संविभाग करना, उसको पर से भिन्न जानना, पुद्गल अन्य है व मेरा आत्मा अन्य है—ऐसा सम्यक् विभाग भेदज्ञान से करना, वह परमार्थ अतिथि संविभाग है। अपना आत्मारूप जो अतिथि है उसको आत्मा का अनुभव प्रदान करना यह अतिथि संविभाग है। कोई तिथि की या काल की मर्यादा जिसको लागू नहीं होती ऐसा जो अपना त्रिकाली आत्मा वही 'अतिथि' है, उसको शुद्ध ज्ञान-आनन्दरस के अनुभव का भोजन कराना यही महान अतिथि संविभाग व्रत है। ऐसे भान के साथ बाहर में दूसरे साधर्मी धर्मात्मा आदि अतिथियों को बहुमान के साथ आहारदानादि की वृत्ति सो शुभभाव है। जिसको स्वपर का विभाग नहीं, जिसको धर्मात्मा के प्रति सच्चा प्रेम नहीं, उसको सच्चा अतिथि संविभाग व्रत नहीं होता।

सम्यक् प्रकार से आत्मा के स्वरूप को लखना-जानना-अनुभवना यह संलेखना है। शुद्धात्मा का अनुभव होने पर देहादि की ममता छूट जाती है और कषायों का भी अभाव हो जाता है।

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ५०० में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

बारह वय उवएसं, धरन्ति भावे विसुद्ध सद्भावं।
आसन्न भव्व पुरिसा, ज्ञान बलेन निव्वुए जंती ॥५००॥

विशुद्ध भावरूप बारह व्रत के उपदेश को जो धारण करता है वह आसन्नभव्य पुरुष ज्ञानबल से निर्वाण को पाता है।

मिथ्यात्व से पर में अहंबुद्धि का होना सो मिथ्यामान है, सम्यक्त्व होते ही वह मिथ्यामान छूट गया व अपने स्वरूप

में ही आपकी अहंबुद्धि हुई, तब सम्यक् भाव प्रगटा। उसका कथन करते हुये गा० १४०-१४१ में कहते हैं कि-आत्मा परमात्मा के समान है—ऐसा जो मान-माप-प्रमाण करना सो परिमाण है, वह सम्यक् मान है। आत्मा का ऐसा माप करो कि यह आत्मा परमात्मा के बराबर है। ऐसा मान (नाप-परिमाण) करने से पर पदार्थ में अहंरूप मिथ्या मान का भाव दूर हो जाता है।

'मान' का अर्थ ज्ञान भी होता है। मान अर्थात् सम्यग्ज्ञान तीन काल-तीन लोक व अलोक का नाप लेने वाला है और वह उत्कृष्ट मान (उत्कृष्ट प्रमाण, उत्कृष्ट ज्ञान) केवलज्ञान है। ऐसे केवलज्ञानरूपी महामान का धारक सर्वज्ञ भगवान अर्हंतदेव पूजनीय है। जहां ऐसा सम्यग्ज्ञानरूप मान प्रगटे वहां दोषरूप मान टूट जाता है।

मिथ्यात्व सहित की माया जीव को कुगति में भ्रमाती है, उसके त्याग का उपदेश देकर के बाद में ज्ञानसमुच्चयसार गा० १४८-१४९ में 'शुद्धमाया' का स्वरूप दर्शाते हुये कहते हैं कि-

माया शुद्धं जिन प्रोक्तं, त्रिलोक त्रिभुवनमयं।
ति अर्थ षट् कमलं च, पंचदीप्ति परमेष्ठिनः ॥१४८॥
माया ज्ञान समं जुक्तं, माया दर्शति दर्शनं।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, माया मुक्ति पथं बुधैः ॥१४९॥

"माया" लक्ष्मी को कहते हैं, शुद्ध माया अर्थात् शुद्ध लक्ष्मी तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। स्वानुभूतिरूपी लक्ष्मी, रत्नत्रयरूप लक्ष्मी अथवा केवलज्ञानरूप लक्ष्मी वह उत्कृष्ट आत्म-लक्ष्मी है, वही शुद्ध माया है। ऐसी शुद्ध मायारूप स्वरूपलक्ष्मी जिसने अंगीकार की उसको जगत के मिथ्यात्वादि परभावरूप

माया-प्रपंच छूट जाता है, इससे कहा कि 'माया मुक्ति का पंथ है'—

समभाव युक्त ज्ञान-लक्ष्मी व शुद्धात्मा को देखने वाली दर्शन-लक्ष्मी, यह माया है। आत्मा को परमात्मरूप से देखने वाली यह ज्ञानदर्शनरूप 'माया' वह मुक्ति का पथ है-ऐसा बुधजनों ने कहा है।

देखो, दृष्टि के पलटते ही अर्थ पलट जाता है। किसी भी शब्द के बहाने से शुद्धात्मा की ओर ले जाना है। 'माया यह मुक्ति का मार्ग'—यह सुनते ही चौंक उठने जैसी बात है, परन्तु भाई! तू धीरज से समझ तो सही, कौन सी माया?—कि अपने स्वरूप की लक्ष्मीरूप माया, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप माया (लक्ष्मी) वह मोक्ष का मार्ग है-ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। कोई मिथ्यात्वादि मायाचार के पाप को तो मोक्ष का मार्ग नहीं कहा।

दुपद परिग्रह व चौपद परिग्रह के सम्बन्ध में ज्ञानसमुच्चय-सार गाथा ४४३-४४४ में कहते हैं कि—

दुपदं दुबुहि जुत्तं अज्ञानं ज्ञान सुद्ध पद रहियं।
दुपदं अनिष्ट दिष्टं, इष्ट विओय दुपद तिक्तं च ॥४४३॥
दुपदं दुर्मति जुत्तं, हिंसानंदी च दुर्बुधिं जुत्तं।
दुपदं निगोय भावं, ज्ञान सहावेन दुपद तिक्तं च ॥४४४॥

दुपद अर्थात् मिथ्यापद, दुर्बुद्धि सहित भाव वह दुपद है, मिथ्याज्ञान को दुपद कहते हैं। ज्ञानानन्दमय निजपद का जिसे अनुभव नहीं है वह परभावरूप दुपद में रमण करता है उसे परमार्थ से दुपद परिग्रह है। शुद्ध चैतन्यपद के अनुभव से धर्मात्मा

ने ऐसे दुपद परिग्रह का त्याग किया है। मिथ्यात्वादि परभाव वही दुपद, उसकी पकड़ निगोद में ले जाने वाली है। सुपद अर्थात् स्व-पद, इससे जो उल्टा वह दुपद, मोक्षमार्ग से विरुद्ध समस्त परभावों की श्रेणी दुपद है। इसी प्रकार चतुष्पद परिग्रह अर्थात् चार गति संबंधी परिग्रह, अथवा चार गति में होने वाले चार कषाय से मिलितभाव, अथवा चार प्रकार के बंधरूप भाव,-उसकी पकड़ वह चतुष्पद परिग्रह है। धर्मात्मा आत्मज्ञान के बल से उस चौपद परिग्रह को छोड़ता है। बाहर में दास-दासी आदि दुपद या हाथी, घोड़ा आदि चौपग का त्याग वह तो उपचार से है, शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा के सम्यक् भानपूर्वक उसमें लीन होने से समस्त परभाव का परिग्रह छूट जाता है।

'श्रावकाचार' गाथा १४२ में कहते हैं कि पांच इन्द्रियों के विषयों में जो रंजायमान होता है वह मिथ्यात्व में आनन्द मान-कर मृषानंद रौद्रध्यान सहित वर्तता है, अथवा वह पुण्य करने में उत्साह रखता है। इस प्रकार संसार के कारणरूप दोष में प्रसन्न होकर उसमें तन्मय रहता है। विषयों का लोभी मोक्षमार्ग को भूलकर पुण्यकर्म करने में बड़ा ही उत्साही हो जाता है।

श्रावकाचार गाथा ३७२ में कहते हैं कि 'शुद्ध ज्ञान जलं तीर्थं....' चैतन्यस्वरूप आत्मा शुद्ध ज्ञानजल से भरा हुआ तीर्थ है, उसमें स्नान करने से (मग्न होने से) शुद्ध संयम होता है।

जो रत्नत्रय गुणों से अलंकृत हो वह साधु संपूर्ण गुणों से सहित है क्योंकि जगत में भव्यजीवों के द्वारा रत्नत्रय पूज्य है (गा० ३४२)। गाथा ३४३ में कहते हैं कि --

देव गुरु पूज सार्धं च अङ्ग सम्यक्त्व शुद्धये।
सार्धं ज्ञानमयं शुद्धं, सम्यग्दर्शन मुत्तमं ॥३४३॥

इसमें कहते हैं कि सम्यक्त्व की शुद्धि के लिये देव-शास्त्र-गुरु की पूजा कर्तव्य है, परन्तु अकेले उसमें ही रुक जाय और अन्तर में न झुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये कहते हैं कि साथ में ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करना वह उत्तम सम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्ध ज्ञानवंत जीव लोक में पूजित होते हैं-जिन्होंने ज्ञान की आराधना की हो व पूज्य तत्त्व (शुद्ध आत्मा) का अनुभव किया हो। (गाथा ३४५) उसी प्रकार श्रुतपूजा के सम्बन्ध में में कहते हैं कि-बुधजनों को चार अनुयोगमय श्रुत की पूजा सदा कर्तव्य है, श्रुतपूजा धर्मध्यानसंयुक्त कही गई है। धर्मध्यान वही परमार्थ से श्रुतपूजा है।

पंडित कौन ?—'उपदेश शुद्धसार' गाथा ३२ में श्री तारण-स्वामी कहते हैं कि वही सच्चा पंडित है-जो शुद्ध विवेकरूप भेदविज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा को जानता है। यह विवेकी पंडित संसार-मार्ग से छूट जाता है, और कर्मों का क्षय करके मुक्ति में पहुँच जाता है।

कारण जैसा कार्य होता है, सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धोपयोग के अभ्यास से केवलज्ञान रूप कार्य उपजाता है। (देखो, 'उपदेश शुद्धसार' गा० ५३५)

ममल पाहुड़ पृ० १२४ (भाग दूसरा) में कहते हैं कि सिद्धस्वरूप में लीन होकर स्वानुभूति जिनेन्द्र भगवान के साथ होली खेलती है।

पृ० १६७ से १७७ में ७२ वां प्रकरण 'संसर्ग सोलही' नाम का है; उसमें मोक्षार्थी को कैसे कुटुम्ब का संसर्ग हो यह बात

सुन्दर उपमा देकर के दिखायी है। मोक्षार्थी को पिता, माता, भाई, भगिनी, बेटा, बेटी, स्त्री आदि कैसे हों? उसका अलंकार-युक्त वर्णन किया है।

बारबार शुद्धात्मचिंतन करने वाला धर्मात्मा कहता है कि- हे परमात्मा! तू ही मेरा पालनकर्ता बाप है, पिता है। आप अपने स्वरूप में स्थित हमारे रक्षक पिता हैं। पिता की आज्ञा-नुसार चलने से पुत्र भी पिता के समान हो जाता है अर्थात् उसको परमात्मपद प्रगट होता है।

प्रमाणरूप शुद्धज्ञान परिणति ही मेरी माता है, उसके द्वारा ही परमात्मपद का जन्म होता है। परमात्मा की माता शुद्धो-पयोग-परिणति है, वही श्रेष्ठ मोक्षरूप परमात्मपद की माता है।

शुद्धोपयोग ही मेरा भाई है, क्योंकि वह शुद्धोपयोग मोक्ष में जाने के लिये भाई के समान सहायक है। और निर्मल सम्य-ग्ज्ञान की परिणति ही भद्रस्वभाव वाली प्रशंसनीय बहिन है-जो कि मोक्षार्थी आत्मा के ऊपर उपकार करती है। ज्ञान-परिणति ही आत्मा की मुख्य व अवश्य उपकार करने वाली बहिन है। यह निर्मल आत्मदृष्टिरूपी भगिनी सर्व भय का नाश करने वाली है, वह स्वयं ज्ञान व आनंदरूप है।

मोक्षार्थी को आत्मानुभूतिरूपी स्त्री है, वह आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्ररूप रत्न-भण्डार की सम्भाल करने वाली है, और परम आनन्दकारी पुत्र को जन्म देने वाली है। ऐसी स्वानुभूति में रमण करने से परमात्मपदरूपी पुत्र की उत्पत्ति होती है।

केवलज्ञान वह शुद्धोपयोग का बेटा है, और निर्मल दृष्टि शुद्धोपयोग की बेटी है। शुद्धोपयोग से निर्मल दृष्टि व केवलज्ञान प्रगट होते हैं इसलिये वही सच्चे बेटे-बेटी हैं। (उसी प्रकार श्वसुर व साली का भी वर्णन किया है।)

आत्मा का मित्र कौन ?-तो कहते हैं कि निर्मल ज्ञान का मिलन ही आत्मा का सच्चा मित्र है, उसमें पाँचों ज्ञान गर्भित हैं। इस मित्र के प्रताप से आत्मा ने अपने सहज शुद्धस्वभाव का अनुभव कर लिया व रत्नत्रय की प्राप्ति कर ली। इस ज्ञान-मित्र के प्रताप से परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

मोक्ष में जाते हुए आत्मा का सहकारी-साथीदार कौन ? सम्यग्दर्शन ही आत्मा का सच्चा सहकारी है-जो कि सदा ध्रुव-रूप साथ में रहता है, जिसके प्रताप से आत्मा का प्रेम होता है। यह सम्यक्त्व के सहकार से आत्मा सहज ही रत्नत्रयमय शुद्ध आत्मा का अनुभव कर लेता है, और अविनाशी मोक्षपद में पहुँच जाता है।

इस प्रकार ऐसे आत्मिक कुटुम्ब के संसर्ग से भव्य मोक्षार्थी जीव को शुद्धात्मा का लाभ होता है। मोक्षार्थी आत्मा को सहज स्वाभाविक शुद्ध गुणों का ही संग है। उनके संसर्ग से मोक्षपद पाकर के जीव परम आनन्द में मग्न रहता है।

इस तरह पिता-माता, बेटा-बेटी, भाई-बहन आदि के बहाने से भी मोक्षार्थी जीव बारबार अपने शुद्धात्मा का चिंतन करता

है, और उसका ही संसर्ग करता है। ऐसे चैतन्य के संसर्ग से वह स्वयं तरणतारण परमात्मा हो जाता है।

ऐसे तारणतरण अरिहंत परमात्मा की जय हो!

* इति अष्ट प्रवचन समाप्त *

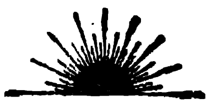
गुरु उपदेश सों पायके अष्ट प्रवचन आज,
सम्यग्दर्शन–ज्ञान है तारनतरन जहाज।
अष्ट प्रवचन कहान के दर्शाते 'भगवान',
हरि–भक्त वो झेल के हो जावे भव पार॥

* सम्यक्त्वसूर्य *

धर्मात्मा के अन्तर में सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ है। निःशंकितादि आठ किरणों से जगमगाता वह सम्यक्त्वसूर्य अल्पकाल में ही आठों कर्मों को भस्म करके सिद्धपद प्राप्त कराता है। उस सम्यक्त्व के आठ अङ्ग सम्बन्धी प्रवचन यहां दिये जा रहे हैं। यह "अष्टांग प्रवचन" भी सम्यक्त्व का परम बहुमान और प्रेरणा जागृत करते हैं इसलिये सर्व जिज्ञासुओं को अवश्य आनन्दित करेंगे।

निःशंकितादि अष्ट किरणों से जगमगाता

सम्यक्त्व-सूर्य



स्वसन्मुखता से अंतर्स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव-पूर्वक धर्मात्मा के अन्तर में निःशंकितादि किरणों से जगमगाता जो सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य उदित हुआ उस सूर्य का प्रताप आठों कर्मों को भस्म कर देता है और अष्ट महा-गुण संयुक्त सिद्धपद की प्राप्ति कराता है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा के ऐसे आठ गुणों का अद्भुत वर्णन समयसार में कुन्द-कुन्दाचार्यदेव ने किया है; उसका विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

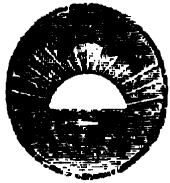
—ब्र० ह० जैन।

सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा के आठ चिह्न

- अंतर में जिस स्वभाव का वेदन हुआ उसमें धर्मी जीव निःशंक है।
- धर्मात्मा ने अपने अंतर में ज्ञान-आनन्द के निधान देख लिये हैं, फिर उसे दूसरे की आकांक्षा क्यों होगी?-इसलिये वह निःकांक्ष है।
- मलिनता की मूर्ति ऐसी देह से तथा अशुचिरूप विभावों से भिन्न, रत्नत्रयस्वभावी मेरा आत्मा स्वयं पवित्र है,-ऐसा जानने वाला धर्मात्मा निर्विचिकित्स होता है।
- ज्ञायक स्वभाव में मोह ही नहीं है तो उलझन कैसी?-इसलिये धर्मात्मा अपने स्वभावपंथ में उलझते नहीं हैं अर्थात अमूढदृष्टि होते हैं।
- सम्यक्त्वी धर्मात्मा ने रत्नत्रय गुणों को प्रसिद्ध करके दोषों का उपगूहन कर डाला है और उपयोग को शुद्ध आत्मा में गुप्त किया है, इसलिये वे उपगूहक हैं और रत्नत्रयधर्म की वृद्धि करने वाले हैं।
- अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में दृढरूप से स्थिर किया है इसलिये धर्मात्मा को स्थितिकरण है।
- रत्नत्रय को अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से देखते हैं इसलिये धर्मात्मा को उस रत्नत्रय के प्रति परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है।
- चैतन्य-विद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर अपने आत्मा को ज्ञानमार्गमें परिणमित करते हुए सम्यक्त्वी धर्मात्मा जिनेश्वरदेव के मार्ग की प्रभावना करते हैं।

—इस प्रकार निःशंकता आदि आठ अंगों से परिपूर्ण ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र द्वारा सम्यक्त्वी जीव आठों कर्मों का नाश कर देता है।

अष्ट किरणों से जगमगाता
सम्यक्त्वरूपी सूर्य



सम्यक्त्वी के आठ अङ्गों का अद्भुत वर्णन

[समयसार गाथा २२९ से २३६ के प्रवचनों से]

卐

सम्यग्दृष्टि-अन्तरात्मा की अद्भुत अन्तरपरिणति की महिमापूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को निःशंकता आदि जो आठ चिन्ह हैं वे आठ कर्मों का नाश कर देते हैं। सम्यक्त्वी धर्मात्मा अन्तरदृष्टि द्वारा निजरससे भरपूर ऐसे अपने ज्ञान-स्वरूप का निःशंकरूप से अनुभव करते हैं। ज्ञान के अनुभव में रागादि विकार को किंचित् एकमेक नहीं करते। निःशंकरूप से ज्ञानस्वरूप का अनुभव समस्त कर्मों का नाश कर देता है।

ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा ही आठ कर्मों का नाश होता है। श्रद्धा में जहाँ परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव को रागादि से पृथक् जाना वहाँ फिर उस चैतन्यस्वभाव के अनुभव द्वारा ज्ञानी को प्रतिक्षण कर्मों का नाश ही होता जाता है और नवीन कर्मों का

किंचित् बंध नहीं होता। इस प्रकार धर्मात्मा को नियम से निर्जरा होती है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा अबंधस्वभावी है, उसके सन्मुख दृष्टि होने के कारण ज्ञानी को बंधन नहीं होता।

देखो, यह श्रद्धा की महिमा! स्वभावोन्मुखदृष्टि होने से जो सम्यक्त्वरूपी जगमगाता हुआ सूर्य उदित हुआ, उसका प्रताप समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है। निःशंकता, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अङ्गरूपी किरणों से जगमगाता हुआ जो सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ उसके प्रताप से सम्यग्दृष्टि समस्त कर्मों को भस्म करके अल्पकाल में ही सिद्धपद प्राप्त करता है। पूर्वकर्म का उदय वर्तता है तथापि दृष्टि के बल से सम्यग्दृष्टि को नवीन कर्मों का बन्ध पुनः नहीं होता, किन्तु पूर्व कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है। उदय है इसलिए बन्ध होता है यह बात ही नहीं रहती; उदय-काल में चिदानन्द स्वभाव के ओर की दृष्टि के बल से आत्मा उस उदय को खिरा देता है, इसलिए वह उदय उसे बन्ध का कारण हुए बिना निर्जरित हो जाता है। सम्यक्त्वरूपी सूर्य का उदय कर्म के उदय को भस्म कर डालता है। जहाँ मिथ्यात्व के बन्धन को उड़ा दिया वहाँ अस्थिरताके अल्पबन्धन की क्या गिनती? वह भी क्रमशः दूर होता जाता है। इस प्रकार ज्ञानीकी स्वोन्मुख परिणति के कारण कर्म की निर्जरा ही होती है और अल्पकाल में सर्वकर्मों का नाश करके वह सिद्धपद प्राप्त करता है। ऐसी सम्यग्दर्शन ही महिमा है।

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावी हूँ—ऐसी प्रतीति के बल से सम्यक्त्वी को निःशंकितादि आठ गुण होते हैं और शंकादि आठ दोषों का अभाव होता है, इसलिए उसे बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। सम्यक्त्वी के आठ अङ्गों का आठ गाथाओं द्वारा आचार्यदेव अद्भुत वर्णन करते हैं:—

[१]

सम्यग्दृष्टि का निःशंकित अङ्ग

जो कर्मबंधन मोहकर्ता पाद चारों छेदता ।
चिन्मूर्ति वह शंकारहित सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥२२९॥

देखो, यह सम्यक्त्वी जीव का चिन्ह ! यह सम्यक्त्वी का आचार ! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जानता है कि मैं तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव हूँ, बन्धन मेरे स्वभाव में है ही नहीं; इस प्रकार अबन्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में धर्मी को बन्धन की शंका नहीं होती। आत्मा के स्वभाव में बन्धन की शंका अथवा भय हो तो वह मिथ्यात्व भाव है, धर्मी को उसका अभाव है। कर्म और उस कर्म की ओर का भाव मेरे स्वभाव में है ही नहीं—ऐसी दृष्टि में धर्मी को निःशंकता है, इसलिए उसे शंकाकृत बन्धन नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

देखो भाई, यह वस्तु लाखों–करोड़ों रुपये खर्च करने से प्राप्त नहीं होती, यह तो अन्तर की वस्तु है। रुपया–पैसा तो पूर्व-पुण्य के उदय से मिल जाता है किन्तु यह वस्तु तो पुण्य से भी प्राप्त नहीं होती। पैसा और पुण्य दोनों से पार अन्तर की रुचि और प्रतीति का यह विषय है। मैं एक ज्ञाता-दृष्टास्वभावी हूँ, अन्य बन्धभाव मेरे स्वरूप में हैं ही नहीं-ऐसी दृष्टि से अबन्ध परिणाम-रूप वर्तते हुए सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को बन्धन होने की शंकारूप

मिथ्यात्वादि का अभाव है। धर्मी जानता है कि—मैं ज्ञायकभाव हूँ; "मेरा ज्ञायकस्वभाव कर्म से ढँक गया है"—ऐसी उसे शंका नहीं होती। कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्वादि भावों का मेरे स्वभाव में अभाव ही है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की निःशंकता ही धर्म का साधन है। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई वहाँ अन्य साधन में व्यवहारसाधन का उपचार आया; किन्तु जहाँ ज्ञायक-स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं है वहाँ तो अन्य साधन को व्यवहार-साधन भी नहीं कहा जाता।

जीव को ऐसा लगना चाहिये कि अरे, मेरा क्या होगा? मेरा हित कैसे होगा? अनादि संसार में कहीं शरण न मिली, परभाव भी मुझे शरणरूप नहीं हुए, इसलिए अब अन्तर में अपनी शरण ढूँढना चाहिए। क्या इसी स्थिति में रहना है? भाई, अन्तर में शरण है उसे पहिचान। तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावमय है वही तुझे शरणरूप है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा ने अपने ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को जानकर उसकी शरण ली है। उस स्वभाव की शरण में उसे कर्मबन्ध होने की शंका ही नहीं है, इसलिए उसे बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है।

चतुर्थ गुणस्थान में स्थित सम्यक्त्वी को भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में निःशंकता है। बन्धन करने वाले मिथ्यात्वादि भाव मेरे स्वभाव में हैं ही नहीं-ऐसी प्रतीति के कारण धर्मात्मा को बन्धन होने की शंका नहीं होती इसलिए शंकाकृत बन्धन उसे नहीं होता किन्तु निःशंकता के बल से उसके पूर्वकर्मों की भी निर्जरा हो जाती है।

*

[२]

सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित अंग

जो कर्मफल औ सर्वधर्मों की न कांक्षा राखता।
चिन्मूर्ति वह कांक्षा रहित सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥२३०॥

मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ। ज्ञायकस्वभाव ही मेरा धर्म है, इसके अतिरिक्त बाह्य के कोई धर्म मेरे नहीं है, कर्म और उनके फल से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ—ऐसी अन्तर्प्रतीति में धर्मी को किसी भी कर्म या कर्मफल की आकांक्षा नहीं है; उन सबको वह पुद्गल स्वभाव जानता है तथा वह ज्ञायकस्वभाव से भिन्न सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा से रहित है। इस प्रकार धर्मी जीव निःकांक्ष है, इसलिए उसे कांक्षाकृत बन्धन नहीं होता किन्तु पूर्वकर्म खिर जाते हैं।

मैं ज्ञानस्वभावी हूँ-ऐसी ज्ञाननिधि अपने पास देखी है उसे पर की आकांक्षा क्यों होगी? आनन्द से परिपूर्ण चैतन्यऋद्धि के समक्ष ज्ञानी जगत् की किसी ऋद्धि की इच्छा नहीं रखता। क्योंकि-

सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसे घटमें प्रगट सदा,
अन्तर की लक्ष्मी सों अजाची लक्षपति हैं;
दास भगवंत के उदास रहें जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।

सम्यक्त्वी जानता है कि अहो! मेरे आत्मा की सिद्धि, ऋद्धि और वृद्धि सदा मेरे घट में-अन्तर में ही है; ऐसी अन्तर की चैतन्य-लक्ष्मी के लक्ष्य द्वारा वह अयाचक लक्षाधिपति है,

वह बाहरी ऋद्धि-सिद्धि की वांछा नहीं करता। वह जिनेन्द्र भगवान का दास है और जगत से उदास है। ऐसे सम्यक्त्वी जीव दास सुखी हैं। अहा! जिनके निकट इन्द्र का वैभव तो क्या किन्तु तीन लोक की, 'विभूति' भी सचमुच विभूति समान (राख समान) है, ऐसी चैतन्य की अचिन्त्य 'विभूति' जिसने अपने अन्तर में देख ली है वह जीव बाह्य विभूति की इच्छा क्यों करेगा?

चैतन्य की ऋद्धि के समक्ष धर्मी को जगत की किसी ऋद्धि की आकांक्षा नहीं है। जीवस्वभाव प्रतीति में आने के पश्चात् स्वर्ण और पाषाण आदि सर्व पदार्थों को अजीव के धर्म जानकर धर्मात्मा को उनकी आकांक्षा नहीं होती। जगत में प्रशंसा हो या निन्दा हो किंतु धर्मात्मा उससे अपना हित-अहित नहीं मानते, इसलिये उन्हें तत्सम्बंधी कांक्षा नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की भावना में परभावरूप अन्य धर्मों की आकांक्षा ज्ञानी को नहीं होती, इस-प्रकार सम्यक्त्वी जीव जगत में सर्वत्र निःकांक्ष है, इसलिए पर की कांक्षाकृत बंधन उसे नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

"क्या इच्छत खोवत सबै है इच्छा दुख मूल।"

अरे जीव, सुख तो तेरे चैतन्यस्वभाव में है, उस सुख को चूक-कर तू बाह्य पदार्थों में से सुख लेने की इच्छा क्यों करता है? अपने ज्ञानानंद स्वभाव की भावना छोड़कर पर की इच्छा करना वह दुःख का मूल है। धर्मात्मा को ज्ञानानंद स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की भावना नहीं है। अस्थिरता की इच्छा धर्मात्मा को होती है किंतु उस इच्छा की उसे भावना नहीं है, उसे अपने ज्ञायकस्वभाव से भिन्न जानते हैं इसलिए ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में परमार्थतः उन्हें इच्छा का अभाव ही है। इस प्रकार इच्छा का अभाव होने से उन्हें सर्वत्र निःकांक्षिता ही है, और इसलिए उन्हें निर्जरा ही होती है; वांछा के अभाव के कारण कांक्षाकृत बंधन उन्हें नहीं होता।

[३]

सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अङ्ग

सर्व धर्मों में जुगुप्सा-भाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३१॥

मैं एक वीतरागी ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा अन्तर्वेदन हुआ वहाँ धर्मात्मा को जगत के किसी पदार्थ के स्वरूप के प्रति ग्लानि नहीं होती। पदार्थ का ऐसा ही स्वभाव है—यह जानकर उसके प्रति धर्मात्मा को दुर्गन्छा नहीं होती। मैं तो शांत ज्ञानस्वभाव ही हूँ, ऐसे ज्ञानवेदन में रहते हुए ग्लानि का अभाव होने से धर्मात्मा को निर्जरा ही होती है, बन्धन नहीं होता। किन्हीं रत्नत्रयधारक मुनिराज का शरीर मलिन काला-कुबड़ा हो तो वहाँ धर्मात्मा को जुगुप्सा नहीं होती; वह जानता है कि आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रयमय पवित्र है और यह मलिनता तो शरीर का स्वभाव है। शरीर ऐसे ही स्वभाव वाला है। इस प्रकार वस्तुस्वभाव का चिन्तवन करने वाले धर्मात्मा को दुर्गन्छा-ग्लानि नहीं होती; इसलिए ग्लानिकृत बन्धन उसे नहीं होता।

मैं तो ज्ञान हूं, मेरे ज्ञान में मलिनता नहीं है और मलिन वस्तु को जानने से ज्ञान कहीं मलिन नहीं हो जाता; मलिनता को जानते हुए धर्मात्मा को यह शंका नहीं होती कि मेरा ज्ञान ही मलिन हो गया है, वह तो ज्ञान का पवित्ररूप से ही अनुभव करता है, इसलिए वास्तव में उसे दुर्गन्छा—जुगुप्सा नहीं होती।

शरीर में क्षुधा–तृषा हो, रोग हो, छेदन–भेदन हो और रक्त की धार बहे, वहाँ धर्मात्मा उसे जड़ की पर्याय मानते हैं। अरे, मैं तो आत्मा हूँ, यह सब जड़ की पर्यायें मुझसे भिन्न हैं–ऐसे सम्यग्ज्ञान में प्रवर्तमान धर्मात्मा के संयोगी दृष्टि छूट गई है इसलिए पदार्थ के स्वरूप के प्रति उन्हें द्वेष नहीं होता। अल्प सहनशक्ति के कारण भी अल्प प्रतिकूलता का भाव आ जाय, वह तो अस्थिरता का दोष है, श्रद्धा का दोष नहीं है। जिसने शरीर से भिन्न आत्मा के आनन्द का निर्णय किया हो उसे शरीर की दुर्गंधित अवस्था के समय ग्लानि नहीं होगी। शरीर मैं नहीं हूँ, मैं तो आनंद हूँ.–ऐसी आत्मा के ज्ञानानंद स्वरूप की सुगन्ध (संस्कार) जिसने अपने में प्रगट की होगी उसे शरीर की दुर्गंधादि अवस्था के समय भी ज्ञान की एकताबुद्धि नहीं छूटेगी, इसलिए ज्ञान की एकता छूटकर उसे दुर्गन्छा नहीं होती।

मेरे आत्मा की पवित्रता अपार है और यह शरीरादि तो स्वभाव से ही अपवित्र हैं—ऐसा जानने वाले धर्मात्मा को किसी परद्रव्य में दुर्गंछा नहीं होती, इसलिए चाहे जैसे मलिनादि पदार्थों को देखकर भी वे पवित्र ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से नहीं डिगते। जिस प्रकार दर्पण में चाहे जैसे मलिन पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़े तथापि वहाँ दर्पण को उनके प्रति ग्लानि नहीं होती; उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप स्वच्छ दर्पण में चाहे जैसे पदार्थ ज्ञात हों तथापि दुर्गंछा–द्वेष करना उसका स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का अनुभवन करने वाले ज्ञानी को दुर्गंछा का अभाव होने से बन्धन नहीं होता, किन्तु निर्जरा होती है।

आत्मा की अचिंत्य महिमा का चिंतन
संसार के सर्वक्लेशों को भुला देता है।

[४]

सम्यग्दृष्टि का अमूढदृष्टि अंग

संमूढ नहिं जो सर्वभाव में सत्यदृष्टि धारता।
वह मूढदृष्टि रहित समकितदृष्टि निश्चय जानना ॥२३२॥

जिसे आत्मा के ज्ञानस्वरूप की दृष्टि हुई है वह धर्मात्मा अनेक प्रकार की विपरीत बातें सुनकर भी उलझन में नहीं पड़ता, विपरीत युक्तियाँ सुनकर भी उसे अपने स्वरूप में उलझन या शंका नहीं होती। पूर्व के पंडित कुछ कहते हैं, पश्चिम के कुछ कहते हैं, उत्तर के कुछ कहते हैं, और दक्षिण के कुछ कहते हैं—इस प्रकार अनेक विद्वान भिन्न भिन्न अनेक प्रकार से कहते हैं, वहाँ सम्यक्त्वी धर्मात्मा उलझन में नहीं पड़ता कि यह सच होगा या यह? अनेक बड़े बड़े विद्वान मिलकर विपरीत प्ररूपणा करें तब भी धर्मी उलझ नहीं जाते। ज्ञानानन्द स्वभाव की जो दृष्टि हुई है उसमें निःशंकरूप से वर्तते हैं। सम्यक्त्वी सर्व पदार्थों के रूप को यथार्थ जानता है। शास्त्रों में पूर्वकाल में होने वाले तीर्थंकर आदि का तथा असंख्य द्वीप-समुद्र आदि का, महाविदेह क्षेत्र आदि का तथा सूक्ष्म परमाणु आदि का वर्णन आता है वहाँ धर्मात्मा को शंका या उलझन नहीं होती कि यह कैसे होगा? मैं तो ज्ञायक-भाव हूँ। ज्ञायकभाव में मोह ही नहीं है तो उलझन कैसी? निर्मोहरूप से वह अपने ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव करता है। जिस प्रकार लोक में चतुर पुरुष अनेक प्रकार की समस्याएँ आने

पर भी उलझन में नहीं पड़ते किंतु उनका हल ढूँढ लेते हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा अपने स्वभाव के मार्ग में निःशंक रहते हैं; अनेक प्रकार की सांसारिक कुयुक्तियाँ आ जायँ तथापि धर्मात्मा अपने आत्महित के कार्य में लगे रहते हैं। किसी भी प्रकार अपने आत्महित का मार्ग ढूँढ लेते हैं। अस्थिरताजन्य उलझन होती है वह कहीं श्रद्धा को दूषित नहीं करती, इसलिए श्रद्धा के विषय में तो उलझन का अभाव ही है। ऐसी श्रद्धा के बल से धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है, बन्धन नहीं होता। सर्व भावों में कहीं भी उन्हें विपरीत दृष्टि नहीं होती इसलिए धर्मात्मा की दृष्टि में उलझन का अभाव है।

जैसे—किसी साहूकार के पास लाखों-करोड़ों की पूँजी हो और कोई व्यक्ति उसकी पेढी पर लिख जाय कि "यह आदमी दिवालिया हो गया है;" इस प्रकार कई लोग मिलकर प्रचार करें तो भी वह साहूकार घबराता नहीं है; वह निःशंक जानता है कि मेरी सारी सम्पत्ति मेरे पास सुरक्षित है। लोग भले कहें, लेकिन अपने हृदय को तथा अपनी सम्पत्ति को मैं जानता हूँ।

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा निःशंक जानता है कि अपने चैतन्य की ऋद्धि मेरे अन्तर में विद्यमान है, बाह्य दृष्टि लोग भले ही अनेक प्रकार से विपरीत कहें या निन्दा करें किंतु धर्मात्मा को अपने अन्तरस्वभाव की प्रतीति में शंका नहीं होती। लोग कुछ भी कहें किंतु मुझे अपने स्वभाव की प्रतीति है, अपने स्वभाव की निःशंक श्रद्धा है, अपना वेदन-अपने चैतन्य की सम्पत्ति को मैं जानता हूँ। इस प्रकार धर्मात्मा जीव को अपने स्वरूप में कभी उलझन नहीं होती, इसलिए उसे मूढ़ताकृत बन्धन नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

[५]

सम्यग्दृष्टि का उपगूहन अंग

मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ—ऐसे अन्तरस्वभाव के अनुभवपूर्वक जहाँ निःशंक प्रतीति हुई वहाँ सम्यक्त्वी निर्भयता से अपने स्वरूप की साधना करता है। वहाँ उसे सात प्रकार के भय नहीं होते और निःशंकता आदि आठ प्रकार के गुण होते हैं। उन गुणों का वर्णन चल रहा है। सम्यक्त्वी के निःशंकता, निःकांक्षता, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि—इन चार अंगों का वर्णन हो गया है, अब इस गाथा में पांचवें उपगूहन अंग का वर्णन करते हैं:—

जो सिद्धभक्ति सहित है, उपगुहक है सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वह उपगुहनकर, सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥२३३॥

सम्यक्त्वी धर्मात्मा सिद्धभक्ति सहित है। सिद्धभक्ति में अर्थात् सिद्ध समान अपने शुद्ध आत्मा में उपयोग को गुप्त किया है (जोड़ा है) इसलिए धर्मात्मा को 'उपगूहन' है और उसकी आत्मशक्तियां प्रतिक्षण बढ़ती जाती हैं इसलिए उसे उपबृंहण भी है। मैं चिदानन्दस्वभावी हूँ, इस प्रकार अन्तर में उपयोग को लगाया वहाँ गुणों का उपबृंहण और रागादि विकार का उपगूहन हो गया। स्वभाव की शुद्धता प्रगट हुई वहां दोषों का उपगूहन हो गया। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप के अवलम्बन से धर्मात्मा

को प्रतिक्षण गुणों की शुद्धता बढ़ती जाती है और दोष दूर होते जाते हैं, उसे उपबृंहण अथवा उपगूहन कहते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि धर्मी की दृष्टि में अल्प दोष की मुख्यता होकर स्वभाव ढँक जाय। अल्प दोष हो तो उसे जानते हैं किंतु ऐसी शंका नहीं करते कि मेरा पूर्ण स्वभाव मलिन हो गया है। ज्ञानानन्द स्वभाव की मुख्यता में धर्मात्मा को अल्पदोष की गौणता होने से उपगूहन अंग वर्तता ही है और उसकी आत्मशुद्धि प्रतिक्षण बढ़ती जाती है इसलिए उसे प्रतिक्षण निर्जरा होती रहती है।

धर्मात्मा ने अपने शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव में उपयोग लगाया है उसका नाम परमार्थतः सिद्धभक्ति है। जहाँ शुद्धस्वभाव पर दृष्टि है वहां अल्पदोष पर दृष्टि होती ही नहीं इसलिए उसे दोष का उपगूहन वर्तता है। चैतन्यस्वभाव को प्रसिद्ध करके दोषों का उपगूहन कर डाला है, एक क्षण भी दोष की मुख्यतः करके स्वभाव से च्युत नहीं होता इसलिए उसकी शुद्धता बढती ही जाती है–ऐसा धर्मात्मा का उपगूहन है; उसका प्रतिसमय मोक्ष पर्याय की ओर परिणमन हो रहा है। अहो! दृष्टि का ध्येय तो द्रव्य है और द्रव्य तो मुक्तस्वरूप है, इसलिए मुक्तस्वरूप की दृष्टि में धर्मात्मा प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। सचमुच मिथ्यात्व ही संसार है और सम्यक्त्व वह मुक्ति है। धर्मी को अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है, उसी की भक्ति है और उसका फल मुक्ति है। पर्याय के अल्पदोष का आदर नहीं है इसलिए उसकी भक्ति नहीं है; उस अल्पदोष को मुख्य करके स्वभाव की शुद्धता को नहीं भूलते। ऐसे धर्मात्मा को अशुद्धता घटती जाती है और शुद्धता में वृद्धि होती जाती है, इसलिए उसे बन्धन नहीं होता किंतु कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है, इसलिए वह अल्पकाल में मुक्त हो जायेगा।

धर्मी को भी जो राग है वह कहीं निर्जरा का कारण नहीं है, किंतु अन्तर्मुखदृष्टि के परिणमन से प्रतिक्षण जो आत्मशुद्धि की वृद्धि होती है वही निर्जरा का कारण है। किंचित् निर्बलता से राग होता है, किंतु उस राग के प्रति धर्मी की दृष्टि का झुकाव नहीं है। धर्मात्मा की दृष्टि तो अखंड ज्ञायकमूर्ति स्वभाव पर ही है, उस दृष्टि के बल से शुद्धि की वृद्धि होकर कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है।

[६]

सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा में सम्यक्त्वी को निःशंकितादि आठ गुण होते हैं उनका यह वर्णन है—

उन्मार्गगामी स्वात्मको, जो मार्ग में स्थापता।
चिन्मूर्ति वह स्थितिकरणयुत, सम्यक्‌दृष्टि जानना ॥२३४॥

धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि अन्तरस्वभाव की श्रद्धा के बल से अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर रखता है, किसी भी प्रसंग के भय से वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होने देता। यद्यपि अस्थिरता के रागादि होते हैं तथापि ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा के बल के कारण वे मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होते, यही सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अंग है।

धर्मात्मा को रागद्वेष आदि के विकल्प तो आते हैं परन्तु मोक्षमार्ग से विरुद्धता के विकल्प उन्हें नहीं आते, अर्थात् कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का पोषण करने के या रागादि से धर्म होता है ऐसी मिथ्यामान्यतारूप उन्मार्ग का पोषण करने के विकल्प तो उन्हें आते ही नहीं तथा अन्य जो अस्थिरता के विकल्प आते हैं उन विकल्पों का भी ज्ञायकस्वभाव में एकाकाररूप से स्वीकार नहीं करते, अपने ज्ञायकस्वभाव को विकल्प से पृथक् ही देखते हैं इसलिए सम्यग्दर्शनरूप मार्ग में स्थितिकरण उनके सदैव वर्तता ही है। परंतु

अस्थिरता से ज्ञान–चारित्ररूप मार्ग के प्रति कभी कदाचित् मन्द उत्साह हो जाय और वृत्ति डिग जाय तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की दृढ़ता द्वारा पुनः दृढरूप से अपने आत्मा को मार्ग में स्थिर करते हैं उसे भ्रष्ट नहीं होने देते–ऐसा धर्मी का स्थिति-करण अंग है। ऐसे स्थितिकरण के कारण धर्मी का आत्मा मार्ग से च्युत नहीं होता इसलिए उसे बन्ध नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

धर्मात्मा अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होने देते, तथा अन्य किसी साधर्मी को कदाचित् मोक्षमार्ग के प्रति निरुत्साही होकर डिगते देखें तो उसे उपदेशादि द्वारा मोक्षमार्ग के प्रति उल्लासित करके दृढरूप से मार्ग में स्थिर करते हैं। ऐसा स्थितिकरण का शुभभाव भी धर्मी को सहज ही आ जाता है।

कोई किंचित् डिगने का विचार आ जाये तो वहाँ धर्मी शुद्धस्वभाव की दृष्टि से अपने आत्मा को पुनः मोक्षमार्ग में दृढता से स्थिर करते हैं; इस प्रकार अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करना सो निश्चय स्थितिकरण है; और व्यवहार से दूसरे आत्मा को भी मोक्षमार्ग से च्युत होने का प्रसंग देखकर उसे उपदेशादि द्वारा मोक्षमार्ग में स्थिर करने का शुभभाव धर्मात्मा को आता है वह व्यवहार स्थितिकरण है। "अहो, ऐसा महान पवित्र जैनधर्म ! ऐसा अपूर्व मोक्षमार्ग !! पूर्वकाल में कभी जिसकी आराधना नहीं की ऐसे मोक्षमार्ग को साधकार अब मोक्ष में जाने का अवसर आया है........तो उसमें प्रमाद या अनुत्साह क्यों होगा ?"–ऐसे अनेक प्रकार से मोक्षमार्ग की महिमा प्रसिद्ध करके सम्यक्त्वी अपने आत्मा को तथा दूसरे के आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करता है, उसका नाम स्थितिकरण है।

*

[७]

सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अंग

जो मोक्षपथ में 'साधु'त्रय का वत्सलत्व करे अहो।
चिन्मूर्ति वह वात्सल्ययुत सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥२३५॥

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र यह तीनों मोक्ष-मार्ग के साधक होने से 'साधु' हैं; इन तीन साधुओं के प्रति अर्थात् रत्नत्रय के प्रति धर्मात्मा को परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है। व्यवहार में तो आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन तीन साधुओं के प्रति वात्सल्य होता है और निश्चय से अपने रत्नत्रयरूप तीन साधुओं के प्रति परम वात्सल्य होता है। यहाँ निर्जरा का अधिकार होने से निश्चय अंगों की मुख्यता है, इसलिए आचार्यदेव ने निःशंकितादि आठ अंगों का निश्चय स्वरूप बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपने के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्-रूप देखता है इसलिए वह मार्गवत्सल है अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवंत है, इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होने-वाला बन्ध नहीं है किंतु निर्जरा है।

देखो, आठों अंग के वर्णन में "टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव-मयपने के कारण"—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने विशेषता की है। सम्यग्दृष्टि सदा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है इसलिए

उसे शंका-कांक्षा आदि दोष नहीं होते और इसीलिए उसके निःशंकितादि आठ गुण होते हैं तथा उनसे उसे निर्जरा होती है। इस प्रकार "टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपना" वह मुख्य वस्तु है, उसी के अवलम्बन से यह निःशंकितादि आठों गुण स्थित हैं और उसी के अवलम्बन से निर्जरा होती है। धर्मी की दृष्टि में से उस स्वभाव का अवलम्बन कभी एक क्षणमात्र भी नहीं छूटता।

यहाँ वात्सल्य के वर्णन में भी आचार्यदेव ने अद्भुत बात कही है। सम्यक्त्वी को रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य होता है। क्यों होता है? तो कहते हैं कि रत्नत्रय को अपने से अभेदबुद्धि से देखता है इसलिए उसे उसके प्रति परम वात्सल्य होता है। देखो इस वात्सल्य में राग की या विकल्प की बात नहीं है किन्तु "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो मेरा स्वभाव ही है"—इस प्रकार रत्नत्रय का अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से अनुभव करना उससे किंचित् भेद न रखना यही उसके प्रति परम वात्सल्य है। जिस वस्तु को अपनी माने उसके प्रति प्रेम होता है। जिस प्रकार गाय को अपने बछड़े के प्रति अतिशय प्रेम होता है, उसी प्रकार धर्मी जानता है कि यह रत्नत्रय तो मेरे घर की-मेरे स्वभाव की वस्तु है, इसलिए उसे रत्नत्रय के प्रति अतिशय प्रेम होता है।

'श्रद्धा' को एकत्व ही प्रिय है, उसे भेद या अपूर्णता अच्छे नहीं लगते। धर्मात्मा सम्यक्श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने आत्मा के साथ अभेदबुद्धि से देखता है; रागादि के साथ उसे अपनी एकता भाषित ही नहीं होती। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा रत्नत्रय को अपने साथ अभेदबुद्धि से देखता है, इसलिए वह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के प्रति अत्यन्त प्रीतिवान है, मोक्षमार्ग के प्रति उसे परम वात्सल्य होता है तथा रागादि विभाव के प्रति प्रेम नहीं होता।

देखो, यह धर्मी का वात्सल्य अंग ! धर्मी को अपने आत्मा में ही रति-प्रीति है। गाथा २०६ में कहा है कि—

इसमें सदा प्रीतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट अरु।
इससे ही बन तू तृप्त, तुझको सुख अहो उत्तम होगा॥

हे भव्य ! तू इसमें-इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में नित्य प्रीति कर, इसमें नित्य सन्तुष्ट हो और इसी से तृप्त हो;-तुझे उत्तम सुख होगा।

अहो ! जिसे आत्मा का हित करना हो-सच्चे सुख की आवश्यकता हो, उसे आत्मा से परम प्रेम करना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि-"जगत इष्ट नहीं आत्म से" अर्थात् जो धर्मी है अथवा धर्म का सच्चा जिज्ञासु है उसे जगत की अपेक्षा आत्मा प्रिय है, आत्मा की अपेक्षा जगत में उसे कुछ भी प्रिय नहीं है।

देखो, गाय को अपने बछड़े के प्रति कैसा प्रेम होता है ! बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है !! उसी प्रकार धर्मात्मा को अपने रत्नत्रयस्वभावरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेदबुद्धि से वात्सल्य होता है। इसमें राग की बात नहीं है किंतु रत्नत्रय में जो अभेदबुद्धि है वही परम वात्सल्य है। अपने को रत्नत्रय में परम वात्सल्य होने से बाह्य में अन्य जिन-जिन जीवों में रत्नत्रय धर्म देखते हैं उनके प्रति भी उन्हें वात्सल्य उमड़ आता है तथा अन्य धर्मात्माओं एवं साधर्मियों के प्रति उनके अन्तर में वात्सल्य के झरने बहते हैं,—यह व्यवहार वात्सल्य है।

धर्मात्मा को जगत में अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परमप्रिय है, संसार सम्बन्धी अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को धर्मी जीव अपने आत्मा के साथ अभेदरूप देखते हैं, इसलिए उन्हें मोक्षमार्ग का अत्यन्त प्रेम है और

निमित्तरूप से मोक्षमार्ग के साधक सन्तों के प्रति परम आदर तथा उस मोक्षमार्ग को दर्शाने वाले सर्वज्ञ भगवान और वीतरागी शास्त्रों के प्रति प्रेम होता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के प्रति या मिथ्यात्व आदि परभावों के प्रति धर्मी को स्वप्न में भी प्रेम नहीं होता। इस प्रकार अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से ही मोक्ष-मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग) को देखता है, इस-लिए धर्मात्मा को मार्ग की अप्राप्ति के कारण होने वाला बन्धन नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है। मार्ग को तो अपने आत्मा के साथ अभेदरूप ही देखते हैं, इसलिए मार्ग के प्रति उन्हें परम वात्सल्य है। देखो, सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्ररूप रत्न-त्रय के प्रति जिसे अभेदबुद्धि हो उसी को मोक्षमार्ग के प्रति सच्चा वात्सल्य है; जिसे रत्नत्रय के प्रति किंचित्मात्र भेदबुद्धि है अर्थात् रत्नत्रय को अभेद आत्मा के ही आश्रित न मानकर जो राग के या पर के आश्रय से रत्नत्रय की प्राप्ति होना मानता है उसे सचमुच रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य नहीं है किंतु उसे तो राग के तथा पर के प्रति वात्सल्य है। धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि तो रत्नत्रय को अपने से अभेदबुद्धिरूप देखता है अर्थात् पर के आश्रित किंचित् भी नहीं देखता, इसलिए उसे रत्नत्रय के प्रति परम वात्सल्य होता है।

इष्ट के निधान आत्मा में हैं।
आनंद के भंडार आत्मा में हैं।
सम्यक्त्वरूपी कुंजी से वे भंडार खुलते हैं।

[८]

सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अङ्ग

चिन्मूर्ति मन-रथ पंथ में, विद्यारथारूढ विचरता ।
वह जिनज्ञानप्रभावकर, सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥

सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपने के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को विकसित करके प्रभाव उत्पन्न करता है, इसलिए प्रभावना करने वाला है ।

देखो, यह जिनमार्ग की प्रभावना !

चेतयिता अर्थात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा विद्यारूपी रथ में आरूढ हुआ है अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ हुआ है, उसने अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ का ही अवलम्बन लिया है... और उस ज्ञानरथ में आरूढ होकर मनरूपी रथ पंथ में अर्थात् ज्ञानमार्ग में ही भ्रमण करता है; इस प्रकार स्वभावरूपी रथ में बैठकर ज्ञानमार्ग में प्रयाण करता हुआ, ज्ञानस्वरूप में परिणमित होता हुआ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करता है । अन्तर में ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा धर्मात्मा को ज्ञान का विकास ही होता है, यही भगवान के मार्ग की सच्ची प्रभावना है ।

इसके अतिरिक्त रत्नजड़ित सोने-चाँदी के रथ में-कि जिसमें अच्छे हाथी, घोड़े आदि जुते हों,-जिनेन्द्र भगवान को या

भगवान के कहे हुए परमागम को विराजमान करके, रथयात्रा द्वारा जगत में उनकी महिमा प्रसिद्ध करना सो व्यवहारप्रभावना है। भगवान के मार्ग के प्रति अतिशय बहुमान होने से उसकी महिमा जगत में कैसे बढ़े, ऐसा व्यवहारप्रभावना का भाव धर्मात्मा को आता है; किंतु अन्तर में जिसने भगवान का और भगवान के कहे हुए ज्ञानमार्ग का सच्चा स्वरूप जाना हो अर्थात् ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ होकर अपने में ज्ञानमार्ग की निश्चय-प्रभावना प्रगट की हो उसी को सच्ची व्यवहार-प्रभावना होती है।

आत्मा चैतन्यस्वरूपी है, उसे अनुभव में लेकर सम्यग्दृष्टि जीव चैतन्यविद्यारूपी रथ में आरूढ होकर ज्ञानमार्ग में परिणमन करता है, इस प्रकार वह धर्मात्मा जिनेश्वरदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला है। देखो, यह धर्मी की प्रभावना! "प्र.... भावना" अर्थात् चैतन्यस्वरूप की विशेष भावना कर-करके धर्मात्मा जीव अपनी ज्ञानशक्ति का विस्तार करता है, वही प्रभावना है। ज्ञान की विशेष भावनारूप प्रभावना द्वारा धर्मात्मा को निर्जरा ही होती जाती है। अपने ज्ञानस्वरूप की विशेष भावना ही जिनमार्ग की सच्ची प्रभावना है।

जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की वीतराग प्रतिमा को रथ आदि में स्थापित करके, बहुमानपूर्वक नगर में घुमाते हैं—ऐसा शुभभाव वह व्यवहार प्रभावना है, क्योंकि भगवान की रथयात्रा आदि देखकर लोग बाह्य में जैनधर्म की महिमा जानते हैं और इस प्रकार जैनधर्म की प्रभावना होती है। यह तो व्यवहारप्रभावना है, शुभराग के समय ऐसा प्रभावना का भाव भी धर्मात्मा को आता है और निश्चय से ज्ञान को अन्तर के चैतन्य-रथ में

जोतकर स्वभाव की विशेष भावना द्वारा अपने ज्ञान की प्रभावना करते हैं। "मैं ज्ञायक हूँ"-ऐसा जो अनुभव हुआ है उसमें बारम्बार उपयोग को लगाता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मा को जिनमार्ग में आगे बढ़ाता है, वह निश्चय से प्रभावना है। आत्मा को मिथ्यात्व के कुमार्ग से उतार कर चैतन्य-रथ में बिठाना और चैतन्य-रथ में बैठाकर उसे जिनमार्ग में-मोक्षमार्ग में ले जाना वह धर्म की सच्ची प्रभावना है; ऐसी प्रभावना से धर्मात्मा को प्रतिक्षण निर्जरा होता जाती है और अप्रभावना कृत बन्धन उसे नहीं होता।

× × ×

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने चैतन्यस्वरूप सम्बन्धी निःशंकता, चैतन्य से भिन्न परद्रव्यों के प्रति निःकांक्षा, आदि आठ अंग होते हैं। यह आठ अंग आत्मस्वरूप के आश्रित हैं इसलिए वे निश्चय हैं; तथा शुभ रागरूप जो निःशंकतारूपी आठ अंग हैं वे पराश्रित होने से व्यवहार हैं। यहाँ तो निर्जरा अधिकार है, इसलिए निर्जरा के कारणरूप निश्चय आठ अङ्गों का वर्णन आचार्यदेव ने आठ गाथाओं द्वारा किया है। इन आठ अंगरूपी तेजस्वी किरणों से जगमगाते हुए सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का प्रताप सर्वकर्मों को भस्म कर देता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इन निःशंकितादि आठ गुणों से परिपूर्ण ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन-चक्र द्वारा समस्त कर्मों का घात करके मोक्ष को साधता है।

अहो! निःशंकितादि आठ अंगरूपी दिव्य किरणों द्वारा जगमगाता हुआ सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य अपने दिव्य प्रताप से आठों कर्मों को भस्म करके आत्मा को सिद्धपद की प्राप्ति कराता है।

ऐसे सम्यक्त्वसूर्य का महान उदय जयवन्त हो!

वेदन

चैतन्यसन्मुखता से धर्मात्मा को जहाँ परम अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ वहाँ अपने वेदन से ज्ञात हुआ कि मेरे इस आनन्द के वेदन में राग का अवलम्बन नहीं था, अथवा किसी पर का आश्रय नहीं था, अपने आत्मा का ही आश्रय था। ज्ञानी के निकट श्रवण और मनन से पूर्व-काल में जो जाना था वह अब अपने वेदन से जाना।

सुख का धाम

सन्त कहते हैं कि—

संसार को भूलकर अपनी अतीन्द्रिय चैतन्य-गुफा में उतर, तो वहाँ अकेला सुख ही भरा है। तेरा स्वरूप सुख का ही धाम है।

धुन

मेरा आत्मा ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है—ऐसा निर्णय करने की धुन जिसे लगी है उसके प्रयत्न का मोड़ स्वसन्मुख होता है; राग की ओर उसका झुकाव नहीं होता, उसकी परिणति राग से विमुख होकर अन्तरोन्मुख होती है।

* * *

अरे जीव! तू प्रमोद कर....उल्लास कर....कि आत्मा स्वयं स्वयमेव सुखमय है। अपने सुख के लिए उसे जगत के किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। स्वोन्मुख होने से आत्मा स्वयं अपने अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न होकर मोक्षसुख का सुधापान करता है।

सम्यग्दृष्टि की उज्ज्वल परिणति

सम्यग्दृष्टि निःशंक और निर्भय होता है

सम्यग्दृष्टि के परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलता को वे ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा हैं, अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जानेगा? ज्ञानानन्द स्वभाव की ओर जिसकी परिणति झुकी है ऐसे सम्यग्दृष्टि निःशंक और निर्भय होते हैं, उनका ऐसा अद्भुत पराक्रम होता है कि चाहे जैसी परिस्थिति में भी वे निजस्वरूप से च्युत नहीं होते। उन्हें इस लोक का या परलोक का, वेदना का या अरक्षा का, अगुप्ति का, मरण का या अकस्मात् का—यह कोई भय उन्हें नहीं होता। अपने ज्ञानस्वरूप में ही निःशंक और निर्भयरूप से वर्तते हुए उन सम्यक्त्वी के पूर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है। सम्यक्त्वी को ऐसी उज्ज्वल अन्तर्परिणति का वर्णन समयसार में किया है; उसी का विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

अंतर्मुख होकर जहाँ ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति हुई वहाँ धर्मी ने अपने आत्मा को पर से भिन्न जाना और रागादि से भी आत्मस्वरूप की भिन्नता जान ली। अब वह अन्तर्मुख ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है, राग में

तन्मयता से परिणमित नहीं होता। कोई संयोग उस ज्ञानी को अज्ञानरूप परिणमित नहीं कर सकते। ज्ञानी को ज्ञानभाव में बंधन होने की शंका उठती ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानभाव में निःशंकता से वर्तता हुआ ज्ञानी कर्मों से बंधता नहीं है, किंतु उसके कर्मों की निर्जरा होती है।

अहो, ज्ञानी की अन्तरपरिणति अद्भुत है। ज्ञानी के अन्तर के ज्ञानपरिणाम राग से भी पार हैं अर्थात् परमार्थ से ज्ञानी राग के कर्ता नहीं हैं, ज्ञानी तो ज्ञानपरिणाम के ही कर्ता हैं। अज्ञानी को मात्र राग ही दिखाई देता है, इसलिए ज्ञानी को भी वह उसी दृष्टि से देखता है कि "यह ज्ञानी राग करते हैं, यह ज्ञानी हर्ष करते हैं",—किंतु उस समय उस राग और हर्ष से पार ज्ञानी की परिणति वर्तती है उसे वह अज्ञानी नहीं देखता। ज्ञानी की परिणति राग से भिन्न है। जिसे अपने राग से भिन्न ज्ञान-भाव का वेदन नहीं है वह जीव ज्ञानी की रागातीत ज्ञानपरिणति को कैसे जान सकेगा? अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा कैसे जानेगा? ज्ञानी के परिणाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित उज्ज्वल हैं, उस उज्ज्वलता को वे ही जानते हैं। मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को यथार्थ नहीं जानते। जो जीव ज्ञानी की अन्तर्गत परिणति को यथार्थ रूप से जानता है उसे अपने में ज्ञानस्वभाव और परभाव का भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

सम्यग्दृष्टि का परम साहस

सम्यग्दृष्टि के परिणाम में ऐसा अद्भुत पराक्रम होता है कि चाहे जैसा घोर उपसर्ग आने पर भी वे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से च्युत नहीं होते, निःशंकरूप से अपने ज्ञानभाव में परिण-

मन करते हैं। सम्यग्दृष्टि ही ऐसा परम साहस करने में समर्थ हैं- यह बात आचार्यदेव निम्नोक्त कलश में कहते हैं—

(शार्दूल विक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयता शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ॥१५४॥

देखो, यह धर्मी जीव का अन्तरंग पराक्रम! मात्र सम्यग्दृष्टि ही ऐसा परम साहस करने में समर्थ है कि-जिसके भय से तीन-लोक भयभीत होकर अपना मार्ग छोड़ दें-ऐसा वज्रपात हो तथापि सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होते। "मैं तो ज्ञान-स्वरूप हूँ, मेरा ज्ञानशरीर अवध्य है, जगत में कोई उसका वध करने में समर्थ नहीं है",-ऐसा निःशंकता और निर्भयता से जानते हुए धर्मात्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान से नहीं डिगते।

कदाचित् कोई देव आकर ऐसा कहे तेरी मान्यता मिथ्या है इसलिए यह मान्यता छोड़ दे, नहीं तो मैं तेरे प्राण हर लूँगा, तो वहाँ भी ज्ञानी-धर्मात्मा अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं छोड़ते, ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होते। स्वरूप में निःशंकता है इसलिए उन्हें निर्भयता है। मैं तो ज्ञानशरीरी हूँ, यह जड़ शरीर मेरा है ही नहीं, और मेरे ज्ञानशरीर का घात करने में कोई इस जगत में समर्थ नहीं है। कदाचित् वज्रपात हो और तीन लोक के जीव भय से कांप उठें तथापि वहाँ धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा से नहीं डिगते। जगत के साधारण जीव तो भय से विचलित होकर मार्ग छोड़ देते हैं, किंतु सम्यक्त्वी

धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा में निःशंकता से वर्तते हैं, इसलिए वे निर्भय हैं, वे अपने मार्ग से च्युत नहीं होते;—ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा को निर्जरा होती है।

सम्यक्त्वी निःशंकित होने से सर्वत्र निर्भय हैं, यह बात अब गाथा में कहते हैं—

सम्यक्त्ववंत जीव हैं निःशंकित इससे हैं निर्भय तथा
हैं सप्तभयप्रविमुक्त जिससे, इसलिये निःशंक हैं ॥२८८॥

देखो, यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दशा ! सम्यक्त्वी जीव अत्यन्त निःशंक और निर्भय होते हैं। क्यों ?—क्योंकि वे ज्ञानानन्द स्वभाव के अतिरिक्त समस्त कर्मों के फल की अभिलाषा रहित होने से कर्मों के प्रति अत्यन्त निरपेक्षता से वर्तते हैं। रागादि हों उनकी भी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह राग मुझे कुछ लाभ देगा ऐसी किंचित् बुद्धि नहीं है; मैं तो राग से पार ज्ञानस्वरूप ही हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा है ही नहीं—इसप्रकार अत्यन्त निःशंकतारूप निश्चय वाले होने से सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निर्भय हैं। पीछे से सिंह आ रहा हो तो वहाँ किंचित् भयभीत होकर सम्यक्त्वी भी दौड़ने लगते हैं, तथापि उस समय भी, आचार्यदेव कहते हैं कि वे सम्यक्त्वी निर्भय हैं, क्योंकि यह सिंह मुझे अपने स्वरूप से डिगा देगा—ऐसा भय उन्हें नहीं होता, इसलिए वे निर्भय हैं। ज्ञानी को कभी ऐसा भय नहीं होता, जो ज्ञानस्वरूप में शंका उत्पन्न करे। "मैं ज्ञातास्वरूप हूँ"—ऐसी प्रतीति में धर्मी को कभी शंका नहीं होती, और ज्ञान से भिन्न किसी परभाव की उसे अपेक्षा नहीं है। स्वरूप में निःशंक और परभावों से अत्यन्त निरपेक्ष होने के कारण धर्मात्मा अत्यन्त निर्भय हैं। किंचित् रागादि हों या प्रतिकूलता आ जाये तो वहां "यह राग

या प्रतिकूलता मेरे ज्ञानस्वरूप का नाश कर देंगे"—ऐसा भय या सन्देह ज्ञानी को नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी अत्यन्त निःशंक और निर्भय होते हैं।

अहा! मैं तो ज्ञानभाव ही हूँ, ज्ञान से भिन्न अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है, शुभ-अशुभ कर्मों के उदयकाल में ही मैं तो ज्ञानभाव-रूप से ही परिणमित होने वाला हूँ, समस्त कर्मों के फल से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ—ऐसा जहां अनुभव हुआ वहां धर्मी को सन्देह या भय कहां से होगा? मैंने अपना जो ज्ञानस्वरूप प्रतीति में लिया है वह कभी अन्यथा नहीं होता, जगत में किसी संयोग की ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मेरे ज्ञानस्वरूप को अन्यथा कर सके। ऐसी स्वभाव की निःशंकता के कारण सम्यग्दृष्टि निर्भय होता है। अब, सम्यक्त्वी को सात भय नहीं होते—यह बात आचार्यदेव छहः कलशों द्वारा अद्भुत रीति से समझाते हैं।

[१-२]

अंतर में चित्स्वरूप लोक का निःशंकरूप से अवलोकन करने वाले ज्ञानी को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

ज्ञानी धर्मात्मा को अपने स्वरूप की निःशंकता के कारण इहलोक तथा परलोक का भय नहीं है, यह बात आचार्यदेव १५५ वें श्लोक में कहते हैं :—

(शार्दूल विक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५५॥

(सम्यक्त्वी को सात भयों का अभाव दर्शानेवाले यह १५४ से १६० तक के सात कलश अति सुन्दर भावपूर्ण होने से मुखाग्र करने योग्य हैं।)

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अन्तर्दृष्टि से स्वयमेव मात्र अपने चैतन्यस्वरूप लोक का अवलोकन करता है, बाह्यलोक से भिन्न चैतन्यस्वरूप से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है; इसलिए वह ज्ञानी जानता है कि यह चैतन्यस्वरूप लोक ही मेरे आत्मा का लोक है, उससे भिन्न अन्य कोई-इहलोक या परलोक-मेरा नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी तो निरन्तर निःशंकतापूर्वक अपने आत्मा को सहज ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करता है वहां उसे इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय कहां से होगा ?

जगत में समस्त पर वस्तुएँ इस आत्मा से भिन्न हैं, लोक की कोई वस्तु आत्मा की नहीं है। आत्मा अनन्त चैतन्य शक्ति से परिपूर्ण है, यह जो चैतन्यस्वरूपी लोक है वही आत्मा का लोक है। आत्मा का यह चैतन्यस्वरूप लोक सदैव आत्मा के साथ ही शाश्वत रहता है, आत्मा स्वयं अन्तर्मुख होकर अकेला ही (मन वाणी-देहादि की सहायता के बिना ही अपने अन्तर में अवलोकन करता है, इसलिए स्वयं ही अपना लोक है और आत्मा का चैतन्यस्वरूप सदा व्यक्त है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना लोक जानने के कारण धर्मात्मा को लोक सम्बन्धी भय नहीं होता। अहो! मैं तो ज्ञायक ही हूँ, ज्ञानस्वरूप में ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानस्वरूप से बाह्य मेरा कोई है ही नहीं-ऐसा

धर्मी जानता है; इसलिए 'इस देहादि सामग्री का क्या होगा ?' ऐसा भय धर्मात्मा को नहीं होता। मैं अपने अन्तर की अन्तरंग सामग्री से परिपूर्ण हूँ, बाह्य सामग्री मेरी नहीं है—ऐसे अनुभव की निःशंकता में धर्मात्मा को इहलोक या परलोक का भय नहीं होता। "इस जगत में मेरा कौन है ? परभव में मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ?" ऐसा सन्देह या भय धर्मात्मा को नहीं होता। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ तथा परभव में भी मैं ज्ञानस्वरूप ही रहूँगा, ज्ञानस्वरूप ही मेरा परलोक (उत्कृष्ट वस्तु) है। ऐसी ज्ञानस्वरूप की निःशंकता में धर्मी को दूसरी शंका नहीं होती, और शंका न होने से भय भी नहीं होता।

"हे आत्मन् ! यह चैतन्यस्वरूप लोक ही तेरा है, इससे भिन्न कोई लोक—इहलोक या परलोक तेरा नहीं है।" ऐसा ज्ञानी विचार करता है और निःशंकरूप से वर्तता हुआ सदा अपने सहज ज्ञान का अनुभव करता है। ऐसे अनुभव में धर्मात्मा को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

देखो, लोक में राजपद आदि में तो पुण्य की आवश्यकता है, उसमें कहीं गुण की अपेक्षा नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव भी किसी विशेष पुण्य के उदय से राजा होता है; वहाँ कोई विरोध करे कि बस, हमें मिथ्यादृष्टि राजा नहीं चाहिए, तो उस विरोधी को कषाय का अभिप्राय है, उसे पुण्य का विवेक नहीं है। पुण्य के अनुसार मिथ्यादृष्टि माता-पिता मिलें और कोई विरोध करे कि मैं मिथ्यादृष्टियों को माता-पिता रूप में स्वीकार नहीं करूँगा तो उसके विचार में विवेक नहीं है। भाई, लोक में ऐसा माप नहीं किया जाता। और धर्म में कोई कहे कि "हमारे गुरु बहुत पुण्यवान हैं"—इस प्रकार मात्र पुण्य से गुरुपद की प्रतीति करे

तो सचमुच उसने गुरुपद को जाना ही नहीं। धर्म और पुण्य दोनों वस्तुएँ भिन्न भिन्न हैं। लोक में तो वही बड़ा माना जाता है जो पुण्य से बड़ा हो।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मात्मा को अपने चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं है। मेरे चैतन्यस्वरूप उत्तम-लोक को बिगाड़ने के लिए इस जगत में कोई समर्थ नहीं है,—इस प्रकार धर्मी जीव दुनियां की परवाह छोड़कर आत्मा के अन्तरस्वरूप में ढलता है। अन्तरस्वरूप के अनुभव में इहलोक की या परलोक की चिन्ता कैसी? अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से ज्ञानी सम्यक्त्वी धर्मात्मा निरन्तर निःशंक और निर्भय है।

इस लोक या परलोक में मुझे सदैव अपने चैतन्यस्वरूप का ही साथ है, अन्य किसी का साथ नहीं है, राग का भी साथ नहीं है—ऐसी निःशंक प्रतीति के कारण धर्मात्मा को कभी इह-लोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता। जिसे चैतन्यस्वरूप की निःशंकता नहीं है उसी को भय तथा बन्धन होता है। धर्मात्मा को चैतन्यस्वरूप की निर्भयता के कारण लोक-सम्बन्धी भय नहीं है, इसलिए उसे निर्जरा ही होती जाती है किंतु बंधन नहीं होता।

अहा, एक बार इस बात का निर्णय तो करो। यह अन्त-रंग की बात है, मात्र बाह्य वैराग्य की यह बात नहीं है। अन्तर में जहाँ जगत से भिन्न चैतन्यस्वरूप का अनुभव किया है वहां जगत में कहीं परद्रव्य या परभाव के साथ एकताबुद्धि होती ही नहीं, ज्ञान में ही एकतारूप परिणमन रहता है, इसलिए वहां पर सम्बन्धी भय नहीं होता। कर्म का उदय आकर मेरे चैतन्य-स्वरूप को बिगाड़ देगा ऐसा भय भी धर्मात्मा को नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि निर्भय है।

[३]

ज्ञानी निर्भयता से ज्ञान का ही वेदन करता है अन्य किसी वेदना का भय ज्ञानी को नहीं है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को वेदना-भय भी नहीं होता, ऐसा अब कहते हैं—

एषैकेव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ?
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५६॥

जिनके अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्व-संवेदन हुआ है ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि मेरा आत्मा वेदक होकर अपने ज्ञान-आनन्द के निराकुल स्वाद का ही वेदन करने वाला है; अपने ज्ञान-आनन्द से भिन्न अन्य कोई वेदन मुझमें नहीं है। मेरे ज्ञान-आनन्द के वेदन में आकुलता के वेदन का भी अभाव है, तो फिर पुद्गलजन्य रोगादि वेदना की बात ही कहां रही ?—इसप्रकार निःशंकतापूर्वक अपने सहज अनाकुल ज्ञान का ही निरन्तर वेदन होने से ज्ञानी को अन्य किसी वेदना का भय नहीं होता।

देखो, आजकल (वीर सम्वत् २४८३ में) इन्फ्ल्यूएंजा रोग बहुत फैला है और लोग चारों ओर भयभीत हो गये हैं; किंतु धर्मी जानता है कि—इस रोग की वेदना तो शरीर में है, यह

जड़ शरीर ही जब मेरा नहीं है तो फिर मुझे रोग की वेदना कैसी ? मैं तो अपने ज्ञान का ही वेदन करता हूँ। ज्ञान ही मेरा शरीर है। मेरे ज्ञान-शरीर में इन्फ्ल्यूएन्जा आदि रोगों का प्रवेश ही नहीं है तो मुझे वेदना का भय कहाँ से होगा ?

वेद्य–वेदक दोनों अभेद होते हैं, अर्थात् आत्मा वेदक होकर अपने भाव का वेदन करता है किंतु शरीर का वेदन नहीं करता। अपने से भिन्न वस्तु की वेदना मुझे क्यों होगी ? धर्मी का आत्मा तो अपने से अभिन्न ऐसे ज्ञान का ही वेदन करता है; उस ज्ञान-वेदन में किसी बाह्य वेदना का प्रवेश ही नहीं है तो फिर ज्ञानी को वेदना का भय क्यों होगा ? इस देह का छेदन-भेदन हो, इसमें रोग हो या बिच्छू काटें–उसकी वेदना का वेदन धर्मी को नहीं है; निर्बलता के कारण किंचित् अरुचि या द्वेष हो जाय तथापि उस द्वेष का अपने ज्ञानस्वरूप के साथ एकरूप वेदन नहीं करते, द्वेष से भिन्न ज्ञानस्वभाव का ही अपने में एकत्वरूप से वेदन करते हैं; इसलिए ज्ञानवेदन में ही निःशंकता से वर्तते हुए धर्मात्मा को अन्य किसी बाह्य वेदना का भय नहीं होता।

'वेदना में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की वेदना लेना चाहिए। जिस प्रकार चाहे जैसी प्रतिकूलता की वेदना में भी धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा नहीं छोड़ते, उसी प्रकार चाहे जैसी अनुकूलता हो तथापि धर्मात्मा उसकी वेदना में–संयोग के उपभोग में–सुख-बुद्धि से एकाग्र होकर अपने स्वरूप की श्रद्धा को कभी नहीं छोड़ते। हर्ष-शोकरूप विकार का जो क्षणिक वेदन है उससे भी भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप को जाना है और आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हुआ है, वहाँ बाह्य रोगादि की वेदना का भय धर्मात्मा को नहीं होता। हम तो आत्मा के अती-

निर्भय आनन्द का वेदन करने वाले हैं, हर्ष-शोक का वेदन हो वह वास्तव में हमारा वेदन नहीं है, उस विकारी वेदना का मेरे ज्ञानस्वरूप में प्रवेश नहीं है; और बाह्य में जो रोगादि होते हैं वे तो मुझसे बाहर ही हैं, उनकी वेदना मुझे नहीं है—ऐसे भेदज्ञान में धर्मात्मा को कभी वेदना का भय नहीं होता। जिसमें जो भरा हो उसमें उसी का वेदन होता है। धर्मी जानता है कि मेरे आत्मा में तो आनन्द और शांति ही भरे हैं, इसलिए आत्मसन्मुख दृष्टि में मुझे आनन्द और शांति का ही वेदन है। ऐसा जानते हुए धर्मात्मा क्षणिक हर्ष-शोक के वेदन में एकाकार नहीं होते। मेरे ज्ञान में अन्य किसी वस्तु का प्रवेश ही नहीं है तो उसका वेदन मुझे क्यों होगा? अज्ञानी तो हर्ष-शोक के क्षणिक वेदन में ऐसा एकाकार हो जाता है कि ज्ञान–आनंदस्वरूप को बिल्कुल भूल ही जाता है, हर्ष-शोक से भिन्न कोई वेदन उसे भासित ही नहीं होता। इसलिए हर्ष-शोक के ही वेदन में एकाकाररूप से वर्तता हुआ वह कर्मों से बंधता ही है। और ज्ञानी धर्मात्मा ने हर्ष-शोक से परे चैतन्य के आनन्द के वेदन को जाना है इसलिए वे हर्ष-शोक के वेदन के समय भी उसमें एकाकाररूप से परिणमित नहीं होते; उससे भिन्न रहकर, ज्ञान में ही एकता करके उसी का वेदन करते हैं, इसलिए उस ज्ञानवेदन की मुख्यता में धर्मात्मा को निर्जरा ही होती जाती है। धर्मात्मा को ज्ञान की मुख्यता का वेदन होने से उसी का एक वेदन माना है, और हर्ष-शोक का अल्प वेदन होने पर भी वह गौण होने से उसका अभाव गिना है। इस प्रकार धर्मात्मा को एक ज्ञानवेदन में अन्य वेदना का अभाव ही है, इसलिए उसे वेदना का भय होता ही नहीं।

श्रेणिक राजा आदि सम्यक्त्वी जीव नरक में गये हैं, किंतु उनके भी अन्तर में चैतन्य-दृष्टि से ज्ञानवेदन की ही मुख्यता है,

शोक का वेदन मुख्य नहीं है; क्योंकि दृष्टि तो अन्तर के चैतन्य-स्वभाव पर ही है। हर्ष-शोक की वेदना तो ऊपर का भाव है। उन ऊपर के भावों द्वारा अन्तर में नहीं पहुँचा जाता। ऊपर के भावों को पार करके धर्मात्मा ने अन्तर में प्रवेश किया है। अन्तर्मुख होकर वे अपने आत्मिक ज्ञान-आनन्द से शांत रस का वेदन करते हैं।

जिसका वर्णन सुनकर भी साधारण प्राणी कांप उठता है ऐसी नरक की वेदना में पड़ा हो, वहाँ अज्ञानी तो उस वेदना से ही व्याकुल होकर तड़फता है; उसे चैतन्य का वेदन नहीं होता कि-इस वेदना से परे मेरा चैतन्यतत्त्व है। और ज्ञानी उस नर्क की वेदना से परे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का वेदन करता है। ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि की मुख्यता में शोक के वेदन का उसके अभाव है। यह बात अन्तरंग की है इसे बाहर से समझना कठिन है।

देखो, पं० बनारसीदासजी जब अन्तिम दशा में थे तब वे तो अपनी ज्ञानदशा में ही थे, किंतु पास के लोगों को ऐसी शंका हो रही थी कि-इनका जीव निकलने में विलम्ब क्यों हो रहा है? अवश्य वह किसी वस्तु में अटक गया है। पंडितजी उनकी बात समझ गये और हाथ के इशारे से एक स्लेट मंगाकर उसमें लिखाः—

ज्ञानकुतक्का हाथ मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना॥
जा परजाय को अन्त सत्य कर मानना।
चले बनारसीदास, फेर नहिं आवना॥

देखो, यह ज्ञानी की अन्तरदशा ! अन्तर की निःशंकता से कहते हैं कि-हमने भेदज्ञानरूपी भाले से मोह को छेद डाला है, मोह को मारकर हम जा रहे हैं.. एकाध भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे, अब हम इस संसार में नहीं आएँगे। देखो, यह ज्ञानी की निर्भयता ! ज्ञानी के अन्तर का वेदन बाहर से नहीं जाना जा सकता।

अहा ! चैतन्य के शांत, अनाकुल वेदन से हटकर जीव व्यर्थ ही चिंता करके आकुलता का वेदन करते हैं। किंतु बाह्य की जितनी चिंता करें वह सब व्यर्थ है, उसमें मात्र आकुलता का ही वेदन होता है। इसलिए धर्मात्मा तो निराकुलता से अन्तर के चैतन्यस्वभाव पर निःशंकदृष्टि रखकर ज्ञान के सहज वेदन का निर्भयता से अनुभव करते हैं और "जैसा वर्तमान वैसा भविष्य"—इस न्याय से उसे ऐसा भय नहीं होता कि-"भविष्य में रोगादि की वेदना में फँस जाऊँगा !" वह निःशंक है कि भविष्य में भी मेरे ज्ञानस्वरूप में से ऐसे निराकुल ज्ञान का ही वेदन आयेगा, मेरे ज्ञान में अन्य वेदन का अभाव है— ऐसी निःशंकता के कारण धर्मात्मा निर्भय है।

मैं सहज ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ—ऐसी अन्तर्दृष्टि जिसे हुई है वह सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निःशंक और निर्भय होता है, क्योंकि वह अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त समस्त परद्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष वर्तता है, जो रागादि होते हैं उनकी भी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह राग मुझे कुछ लाभ देगा ऐसी किंचित् बुद्धि नहीं है। मैं तो राग से पार ज्ञानस्वरूप ही हूँ, इसके सिवा अन्य कुछ मेरा है ही नहीं—इस प्रकार अत्यन्त निःशंक, दृढनिश्चयी होने से सम्यग्दृष्टि अत्यन्त निर्भय होता है; सात प्रकार के भय उसे नहीं होते। सात प्रकार के भयों में से इहलोक,

परलोक और वेदना–इन तीन भयों के अभाव सम्बन्धी विवेचन हुआ। अब अरक्षा, अगुप्ति, मरण और अकस्मात इन चार प्रकार के भयों का भी सम्यग्दृष्टि के अभाव होता है उसका विवेचन करते हैं।

[४]

स्वतःसिद्ध ज्ञान का अनुभव करते हुए ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता।

ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता। प्रतिकूलता आ जायेगी तो मेरी रक्षा कैसे होगी ?–ऐसा भय उसे नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, बाह्य प्रतिकूलता आकर मेरे ज्ञानस्वरूप को नष्ट कर दे ऐसा नहीं हो सकता; मेरा ज्ञान तो स्वतःरक्षित है; उसमें प्रतिकूलता का प्रवेश ही नहीं है। ऐसी निःशंकता होने के कारण ज्ञानी को अरक्षा भय नहीं होता, ऐसा अब कहते हैं:—

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५७॥

धर्मात्मा जानता है कि मेरा ज्ञानस्वरूप स्वयमेव सत् है, और जो सत् है वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता,–ऐसी ही वस्तुस्थिति है। इस प्रकार मेरा ज्ञान स्वयं स्वभाव से ही रक्षित है; तो फिर दूसरे के द्वारा उसकी रक्षा कैसी ? मेरे ज्ञान में

अरक्षितता किंचित् है ही नहीं। ऐसी निःशंकता में धर्मी को अरक्षा का भय कहाँ से होगा? वह तो निःशंक और निर्भय वर्तता हुआ अपने स्वतःरक्षित ज्ञान का अनुभव करता है।

देखो, आजकल दुनिया एटम बम से कितनी भयभीत है! एटम बम गिरे तो कैसे रक्षा की जाये?....और अमुक रोग से कैसे बचा जाय?–इस प्रकार बाह्य में रक्षा के उपाय ढूँढता है और भयभीत रहता है; किंतु भाई! एटम बम या रोग में ऐसी शक्ति नहीं है कि तेरे ज्ञानस्वरूप को नष्ट कर सके। इसलिए ज्ञानस्वरूप की प्रतीति कर तो अरक्षा का भय दूर हो जाय। धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा ज्ञानस्वरूप स्वयमेव सत् होने से स्वयं अपने द्वारा रक्षित ही है, इसलिए कोई दूसरा आकर मेरे ज्ञान को बिगाड़ देगा ऐसा भय धर्मात्मा को नहीं होता। यह शरीर तो संयोगी और नाशवान ही है, उसकी रक्षा के लाखों उपाय करने पर भी नहीं हो सकती; जबकि आत्मा तो चैतन्यस्वरूप असंयोगी स्वतःसिद्ध सत् है, उसका नाश किसी से हो ही नहीं सकता। ऐसे चैतन्यस्वरूप का जो निरन्तर अनुभव करते हैं उन ज्ञानी को अपनी अरक्षा का भय कहाँ से होगा?–वे तो निःशंकतापूर्वक सहज ज्ञानस्वरूप का ही सदा अनुभव करते हैं।

सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता; यह ज्ञानस्वरूप आत्मा भी सत्तास्वरूप वस्तु है। आत्मा का स्वरूप कहीं ऐसा नहीं है कि दूसरे के द्वारा रक्षा की जाय तभी टिक सके नहीं तो उसका नाश हो जाये। आत्मा तो स्वतःसिद्ध अविनाशी है। उसका नाश कभी होता ही नहीं–ऐसे आत्मा को ज्ञानी जानते हैं, इसलिए उन्हें अपनी अरक्षा का भय कभी नहीं होता।

[५]

स्वरूप से ही 'गुप्त' ऐसे ज्ञानी को अगुप्ति का भय नहीं होता।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की ओर उन्मुख होकर उसकी निःशंक प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन धर्म है। ऐसे सम्यग्दर्शन द्वारा निःशंक धर्मात्मा को सात प्रकार के भय नहीं होते, उसका यह वर्णन है।

(१-२) चैतन्यस्वरूप लोक ही अपना है और किसी अन्य के द्वारा वह बिगाड़ा नहीं जा सकता, तथा चैतन्यस्वरूप को छोड़-कर आत्मा कहीं अन्यत्र नहीं जाता-ऐसा जानते हैं इसलिए ज्ञानी को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

(३) आत्मा तो चैतन्यवेदन का वेदक है, उसमें बाह्य की कोई अन्य वेदना नहीं होती, इसलिए ज्ञानी को वेदना का भय नहीं होता।

(४) आत्मा का सत् चैतन्यस्वरूप स्वयं अपने द्वारा ही रक्षित स्वयंसिद्ध होने से उसका कभी किसी से नाश नहीं होता, इसलिए ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता।

इस प्रकार चार भयों का अभाव कहा। अब, कहते हैं कि पांचवां अगुप्ति भय भी ज्ञानी को नहीं होता—

स्वं रूपं किल वस्तुनोस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे नय-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।

अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५८॥

वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति है, क्योंकि वस्तु के निजस्वरूप में दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा तो सहज ज्ञानस्वरूपी है, उसके ज्ञानस्वरूप में किसी दूसरे का प्रवेश कभी नहीं होता, इसलिए ज्ञानस्वरूप स्वयं अपने से ही गुप्त है।—ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप को जानते हुए धर्मात्मा को अगुप्ति का भय नहीं होता। मेरे स्वरूप में अन्य कोई आ ही नहीं सकता, तो कोई चोर आदि मुझमें आकर मेरे स्वरूप की चोरी कर ले या उसे बिगाड़ दे–यह बात ही कहाँ रही ?

जब तारंगा सिद्धक्षेत्र पर गये तो वहाँ एक सुन्दर गुफा देखी थी। शेर–चीते का डर होने से गुफा के द्वार पर लोहे के सींकचों का दरवाजा लगा था, ताकि कोई जंगली जानवर अन्दर प्रवेश न कर सके; परंतु इस ज्ञान-गुफा में विद्यमान आत्मा तो स्वभाव से ही ऐसा गुप्त है कि उसमें किसी अन्य का प्रवेश ही नहीं है;—ऐसा जानते हुए ज्ञानी को स्वरूप की अगुप्ति का भय नहीं होता। ज्ञान आत्मा के साथ सदा एकाकाररूप से ही विद्यमान है इसलिए आत्मा अपनी ज्ञान-गुफा में ही निवास करता है, ज्ञान-गुफा में अन्य किसी का प्रवेश है ही नहीं, तो फिर अगुप्ति का भय कहाँ से होगा ? मेरे ज्ञान में अन्य कोई आ नहीं सकता और मेरा ज्ञान आत्मा से पृथक् होकर अन्य में जाता नहीं है। मेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अपने स्वरूप में गुप्त ही है। ऐसा निःशंकरूप से जानता हुआ ज्ञानी निर्भयतापूर्वक अपने सहज ज्ञान का ही निरंतर अनुभव करता है, उसे अगुप्ति का भय नहीं होता।

जिस प्रकार लोक में रुपया, सोना या गहने आदि वस्तुओं

को छिपाकर–गुप्तरूप से न रखा जाय तो कोई चुरा ले जाता है। वहाँ पैसे की रक्षा के लिए अगुप्ति का भय होता है, परंतु पैसा तो पृथक् वस्तु है, इसलिए वह चला जाता है, उसकी रक्षा के अनेकों उपाय करने पर भी रक्षा नहीं हो सकती। किंतु यहाँ ज्ञान में ऐसा अगुप्ति का भय नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो आत्मा से सदा अभिन्न होने के कारण उसे कोई चुरा नहीं सकता, इसलिए वह तो स्वतः रक्षित और गुप्त ही है;—ऐसे निजस्वरूप को जानते हुए ज्ञानी को अगुप्ति का भय नहीं होता।

'गुप्ति' अर्थात् जिसमें चोर आदि प्रवेश न कर सकें ऐसा किला, भोंयरा आदि निर्भय स्थान; उसमें प्राणी निर्भयरूप से रह सकता है। यदि गुप्त प्रदेश न हो और खुला हो तो उसमें रहने वाले प्राणी को भय लगता है। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा को रहने के लिए ऐसा कोई निर्भय–गुप्तस्थान है जिसमें आत्मा निर्भयरूप से रह सके? तो कहते हैं कि हाँ, आत्मा का ज्ञानस्वरूप ही परमगुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है, क्योंकि आत्मा के ज्ञानस्वरूप में अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता–ऐसे आत्मस्वरूप को जानता हुआ ज्ञानी अपनी ज्ञान-गुफा में निर्भयतापूर्वक निवास करता है, वहाँ उसे अगुप्ति का भय नहीं होता।

[६]

शाश्वत चैतन्यप्राण का अनुभवन करने वाले ज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं होता।

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।

तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५९॥

ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता, क्योंकि आत्मा कभी मरता ही नहीं है। आत्मा तो अपने चैतन्य-प्राण से सदा जीवित है—ऐसे आत्मा को निःशंकरूप से जाना वहाँ मरण का भय कहाँ से होगा? जिसे शरीर में आत्मबुद्धि है ऐसा अज्ञानी जीव उसमें किंचित् परिवर्तन होने से "हाय, हाय! मैं मर जाऊँगा!"—इस प्रकार मृत्यु से भयभीत रहता है; किंतु ज्ञानी ने तो आत्मा को शरीर से भिन्न जाना है, इसलिए उन्हें मृत्यु का भय कैसे होगा?

प्राणों के नाश को मरण कहते हैं। आत्मा का प्राण तो निश्चय से ज्ञान है, वह ज्ञान-प्राण स्वयमेव शाश्वत होने से उसका कभी नाश नहीं होता, इसलिए आत्मा का मरण कभी होता ही नहीं। जड़-प्राण तो आत्मा से सचमुच भिन्न ही हैं, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं हैं, इसलिए उन जड़-प्राणों के वियोग से आत्मा मर नहीं जाता, आत्मा तो अपने स्वाभाविक चैतन्य-प्राण से सदा जीवित ही है। तो फिर ऐसे आत्मस्वरूप को जानने वाले ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से होगा? ज्ञानी तो चैतन्य-प्राण से सदा जीवित ऐसे अपने आत्मा का निःशंकरूप से अनुभव करते हैं; 'किसी संयोग द्वारा मेरी मृत्यु हो जायेगी'—ऐसी मृत्यु की शंका या भय उन्हें नहीं होता।

यह जो इन्द्रियादि दस प्राण हैं वे तो आत्मा को संयोगरूप हैं, वे कहीं आत्मा के स्वभावरूप नहीं हैं, इसलिए उन प्राणों के वियोग से आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा का स्वभावरूप प्राण तो चैतन्य है, उस चैतन्य प्राण का आत्मा को कभी

वियोग नहीं होता, इसलिए आत्मा की मृत्यु कभी होती ही नहीं।

इस शरीर के आश्रित दश प्राण हैं वे जड़ हैं, उन प्राणों के वियोग को लोक में मरण कहा जाता है, किन्तु ज्ञानी तो जानता है कि मैं तो सत्-चैतन्यमय हूँ, मेरे प्राण तो चैतन्यमय हैं, चैतन्यप्राण का मुझे कभी वियोग नहीं होता; इसलिए मेरी मृत्यु नहीं होती। पाँच इन्द्रियाँ, श्वास, आयु या मन, वचन, काया वे सब जड़ हैं, वे मुझसे भिन्न हैं, मैं उन जड़ प्राणों से जीने वाला नहीं हूँ, मैं तो अपने चैतन्यप्राण से जीने वाला हूँ। मेरे चैतन्यप्राण शाश्वत हैं—ऐसा जानने वाले धर्मात्मा को मृत्यु का भय नहीं होता। मेरा मरण है ही नहीं,—फिर मरण का भय कैसा? जगत को मरण का भय है किंतु ज्ञानी तो निर्भय हैं उन्हें मरण का भय नहीं होता; वे तो निजानन्द में लीन हैं। मिथ्यात्व दशा में आत्मा का मरण मानता था तब मरण का भय था, किन्तु शाश्वत चैतन्यप्राण से सदा जीवित रहने वाले आत्मा को जानकर जब मिथ्यात्व का नाश किया वहाँ ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता। जन्म-मरण तो शरीर के संयोग-वियोग से कहे जाते हैं, किन्तु आत्मा चैतन्यस्वरूप से स्थित रहने वाला है, वह कहीं जन्म-मरण नहीं करता। जीवन-शक्ति से आत्मा सदा जीवित है, उसका कभी नाश नहीं होता, इसलिए ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि वाले धर्मात्मा को मृत्यु का भय नहीं होता।

देखो, एक आदमी का पुत्र मर गया; उसे किसी ने खबर दी कि तुम्हारा पुत्र मर गया है। यह सुनकर उस आदमी ने कहा कि "मैं धर्मात्मा हूँ, इसलिए मेरे पुत्र छोटी उम्र में नहीं मर सकते।"—ऐसा उत्तर सुनकर वह आदमी कहने लगा

कि देखो, इसे धर्म की कितनी दृढ़ता है। किन्तु भाई यह कोई धर्म का माप नहीं है। धर्मात्मा का पुत्र छोटी उम्र में न मरे—ऐसा कोई नियम नहीं है। धर्म का सम्बन्ध पुत्र की आयु के साथ नहीं होता। कोई अधर्मी पुरुष हो तथापि उसके पुत्र दीर्घायु होते हैं और कोई धर्मात्मा हो तथापि उसके पुत्र छोटी उम्र में भी मर जाते हैं, और कभी तो स्वयं धर्मी की भी अल्प-आयु होती है। पापी दीर्घकाल तक जीते हैं और धर्मात्मा की आयु अल्प होती है—ऐसा भी जगत में होता है। आठ वर्ष की उम्र हो तथापि कोई कोई जीव आत्मा में लीन होकर केवल-ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं; इसलिए दीर्घ-अल्प आयु से धर्मी का माप नहीं निकलता। धर्मी का माप तो इस प्रकार है कि उसने अपने आत्मा को शाश्वत चैतन्य प्राण से जीने वाला जाना है इसलिए उसे मरण का भय नहीं होता; निःशंकता और निर्भयता से वह अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूप का ही अनुभव करता है; इसलिए देह छूटने के काल में भी उसके निर्जरा ही होती जाती है।

[७]

पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी को अकस्मात् का भय नहीं होता।

आत्मा नित्यस्थायी ज्ञान-आनन्दस्वरूप वस्तु है, उसकी जहाँ प्रतीति हुई वहाँ ज्ञानी को अकस्मात् का ऐसा भय नहीं होता कि–"मेरे ज्ञान में अचानक कोई अनिष्ट आ जायेगा तो?" ज्ञानी तो जानता है कि मेरा ज्ञान अनादि-अनन्त एकरूप अचल ज्ञानस्वरूप से ही रहने वाला है, उसमें कोई पर वस्तु या परभाव

अचानक आकर ज्ञान को बिगाड़ दे ऐसा नहीं होता; इसलिए अकस्मात् का भय ज्ञानी को नहीं होता,—ऐसा अब कहते हैं:-

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१६०॥

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है; मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप ही हूँ; मेरा ज्ञान बदलकर अचानक जड़रूप या रागरूप हो जाय ऐसा अकस्मात् मेरे ज्ञान में कभी होता ही नहीं; ज्ञान तो सदा ज्ञानरूप ही रहता है। ऐसे ज्ञान में धर्मी को अकस्मात् का भय नहीं होता। ज्ञान में ज्ञान का ही उदय रहता है, अन्य का उदय नहीं होता;—ऐसे ज्ञान का निःशंकरूप से अनुभव करता है इसलिए धर्मी जीव अकस्मात् आदि के भय से रहित-निर्भय होता है।

धर्मी जीव का सम्यग्दर्शन अन्तरंग स्वभाव के साधन से हुआ है, किसी बाह्य साधन के अवलम्बन से नहीं हुआ, इसलिए किसी बाह्य वस्तु के भय से वह अपने ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होता। ज्ञानस्वरूप के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान में निःशंक तथा निर्भयरूप से वर्तता है। सम्यग्दर्शन क्या संयोग के अवलम्बन से हुआ है कि संयोग उसका नाश कर देगा?-नहीं, सम्यग्दर्शन तो स्वभाव के अवलम्बन से हुआ है इसलिए ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन द्वारा धर्मी निःशंकता से वर्तता है; जगत में सात प्रकार के भय उसे नहीं होते। ज्ञानस्वभावोन्मुख हुए ज्ञान में ज्ञानी को ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भाव का उदय नहीं

होता, रागादिभाव ज्ञान के साथ कभी एकमेक नहीं होते, ज्ञान में किसी अन्य का प्रवेश ही नहीं है तो ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से होगा ? मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ-ऐसी निःशंक प्रतीति से ज्ञानी सदा निर्भय होकर वर्तते हैं।

मेरा आत्मा अनादिकाल से ज्ञानस्वरूप ही था, कहीं जड़-स्वरूप नहीं हो गया था; वर्तमान में भी ज्ञानस्वरूप ही है और अनन्तकाल तक सदा ज्ञानस्वरूप ही रहेगा। सदा ज्ञानस्वरूप मेरे आत्मा में शरीरादि का कभी प्रवेश नहीं है। मेरा आत्मा कभी ज्ञानस्वरूप से छूटकर शरीररूप या विकाररूप नहीं हो गया है—इस प्रकार ज्ञान सदा ज्ञानस्वरूप ही रहने के कारण उसमें अन्य का उदय ही नहीं है। ज्ञान कभी अचानक जड़रूप या विकाररूप हो जाय—ऐसा अकस्मात् ज्ञान में कभी होता ही नहीं; इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करने वाले धर्मी को अक-स्मात् का भय नहीं होता। अकस्मात् बिजली गिरने से मेरा ज्ञान नष्ट हो जायेगा तो ?—ऐसा भय ज्ञानी को नहीं होता क्योंकि बिजली में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ज्ञान को अन्यथा कर सके। (इसी प्रकार सर्प, अग्नि, बम आदि में भी समझ लेना)।

"वर्तमान में तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है, किन्तु भविष्य में कौन जाने कैसा उदय आयेगा और ज्ञान को नष्ट कर देगा तो ?"-ऐसा सन्देह या भय ज्ञानी को नहीं होता। 'जैसा वर्तमान वैसा भविष्य'; जिस प्रकार वर्तमान में मैं निःशंकतापूर्वक ज्ञान-स्वरूप से वर्त रहा हूँ उसी प्रकार भविष्य में भी ज्ञानस्वरूप ही रहूँगा—ऐसी धर्मी को निःशंक श्रद्धा है, और निःशंक होने से वह निर्भय है। ऐसी निःशंकता और निर्भयता से ज्ञानस्वरूप का अनु-भवन करने पर उसे निर्जरा ही होती जाती है। यही धर्म है।

"कोई अचानक अनिष्ट हो जायेगा तो ?" ऐसा भय बना रहना वह आकस्मिक भय है। किंतु ज्ञानी जानता है कि मेरे ज्ञान में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ उत्पन्न ही नहीं होता, इसलिए ज्ञान में अचानक अकस्मात् होता ही नहीं; तो फिर ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहां से होगा ? ज्ञान में अकस्मात् नहीं है, उसी प्रकार ज्ञेयों में भी अकस्मात् नहीं है, क्योंकि जगत के पदार्थों में जो कुछ परिणमन हो रहा है वह उनके परिणमनस्वभावानुसार व्यवस्थित ही है-ऐसे वस्तुस्वभाव को जानने वाले धर्मात्मा को आकस्मिक भय नहीं होता।

इस प्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते। चारित्र की अस्थिरता के कारण कोई भय आ जाय तो अलग बात है, किन्तु ज्ञानस्वरूप में शंका द्वारा होने वाला भय उनको नहीं होता। किसी प्रसंग में ऐसा भय नहीं होता कि—"अरे, यह मेरे ज्ञानस्वरूप से मुझे डिगा देगा !" "मुझे अपने ज्ञानस्वरूप से डिगाने में जगत में कोई समर्थ नहीं है"-ऐसी निःशंकता के कारण ज्ञानी निर्भय हैं। उन्हें ऐसा कोई भय नहीं होता कि जिससे वे अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा से च्युत हो जायँ। सिंहादि का भय हो उस समय भी उन्हें अन्तर में उस भय से परे चिदानन्दतत्व की निःशंकश्रद्धा वर्तती है और इसी से वे निर्भय हैं। और कोई अज्ञानी जीव सिंह, बाघ आये तथापि ज्यों का त्यों निर्भयतापूर्वक खड़ा रहे, सिंह शरीर को फाड़ डाले तथापि चलायमान न हो, किन्तु अन्तर में राग से पार चैतन्यतत्व का वेदन नहीं है और राग की मन्दता को धर्म मान रहा है, तो वह वास्तव में निर्भय नहीं है, किन्तु अनन्त भय में डूबा हुआ है; क्योंकि ऐसे शुभ राग के बिना मेरा चैतन्यतत्व स्थिर नहीं रह सकेगा—ऐसी शंका में ही वह पड़ा है।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा चैतन्यतत्व तो पर वस्तु या राग के बिना स्वतः ज्ञानरूप से स्थिर है; ज्ञान में से रागादि प्रगट हों ऐसा अकस्मात् कभी नहीं होता, इसलिए मैं अपने ज्ञानस्वरूप में निःशंक हूँ–ऐसी निःशंकता के कारण ज्ञानी निर्भय हैं और उन्हें बन्धन नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

× × × ×

देखो, यह सम्यग्दर्शन की महिमा ! जहाँ निःशंकता और निर्भयता से जगमगाता हुआ सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ वहाँ उस सूर्य का प्रताप आठों कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है। सम्यक्त्वी अल्पकाल में ही सर्वकर्मों का क्षय करके परमसिद्ध पद को प्राप्त करता है, वह उसके सम्यग्दर्शन का प्रताप है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा निजरस से भरपूर ज्ञान का ही अनुभव करता है, ज्ञान के अनुभव में रागादि को किंचित् मात्र एकमेक नहीं करता। निःशंकतापूर्वक अपने ज्ञानस्वरूप का रागादि से अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है और इस प्रकार ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा वह समस्त कर्मों का नाश करके सिद्धपद प्राप्त कर लेता है।

नमस्कार हो उस चैतन्याकाश को....कि जहाँ ऐसा सम्यक्त्वसूर्य जगमगा रहा है।

स्वरूप-सागर में डुबकी लगाने से निर्विकल्प आनन्द उल्लसित होता है। भाई! अतीन्द्रिय स्वभावसुख की प्रतीति इस समय हो सकती है, और उसका अंशतः वेदन भी होता है। अतीन्द्रिय सुख की बात सुनते ही मुमुक्षु का आत्मा उल्लसित हो उठता है कि "वाह! ऐसा मेरा सुख है!"

× × ×

रयणत्तये अलद्धे भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥

रे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को प्राप्त न कर पाने से तूने इस दीर्घ संसार में परिभ्रमण किया; इसलिए अब तू उस रत्नत्रय का उत्तम प्रकार से आचरण कर—ऐसा श्री जिनेश्वरदेव ने कहा है।